ISSN 0972-1002

श्रमण
ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVII No. I January-March-2016

Dedicated to Late Shri Nripraj Jain

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAṆA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVII No. I January-March, 2016

Dedicated to Late Shri Nripraj Jain
Formar President, Parshwanath Vidyapeeth

Editor
Dr. Shriprakash Pandey

Associate Editors
Dr. Rahul Kumar Singh **Dr. Om Prakash Singh**

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
(Established: 1937)
(Recognized by Banaras Hindu University as an External Research Centre)

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain
New Delhi
Prof. Cromwell Crawford
Univ. of Hawaii
Prof. Anne Vallely
Univ. of Ottawa, Canada
Prof. Peter Flugel
SOAS, London
Prof. Christopher Key Chapple
Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh
Bheekhampur, Bhagalpur
Prof. Sagarmal Jain
Prachya Vidyapeeth, Shajapur
Prof. K.C. Sogani
Chittaranjan Marg, Jaipur
Prof. D.N. Bhargava
Bani Park, Jaipur
Prof. Prakash C. Jain
JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari
B.H.U., Varanasi
Prof. K. K. Jain
B.H.U., Varanasi
Dr. A.P. Singh, Ballia

Prof. Gary L. Francione
New York, USA
Prof. Viney Jain, Gurgaon
Dr. S. N. Pandey
PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership	*Life Membership*
For Institutions : Rs. 500.00, $ 50	For Institutions : Rs. 5000.00, $ 250
For Individuals : Rs. 300.00, $ 30	For Individuals : Rs. 2000.00, $ 150

Per Issue Price : Rs. 150.00, $ 15

Membership fee & articles can be sent in favour of
Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

Email: pvpvaranasi@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

समर्पण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व अध्यक्ष

श्री नृपराज जैन

को

जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ के विकास के लिए अपने जीवन
के अन्तिम क्षणों तक समर्पित रहे

सम्पादकीय

श्री नृपराज जी जैन का महाप्रयाण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व अध्यक्ष (ई.१९९६-२००१) श्री नृपंराजजी जैन नहीं रहे। उनका दिनांक १४ अक्टूबर २०१५ को एक संक्षिप्त बीमारी के बाद निधन हो गया। श्री नृपराजजी स्व. श्री रतनचन्द जी के प्रपौत्र और मुम्बई के पूर्व मेयर सुप्रसिद्ध समाजसेवी स्व. श्री लाला शादीलालजी जैन के ज्येष्ठ सुपुत्र थे। आप लाला शादीलालजी द्वारा स्थापित 'लायन पेन्सिल्स' और 'चेटन्स' जैसी औद्योगिक कम्पनियों के प्रबन्धक रहे। साथ ही आप ऑल इण्डिया मैनुफैक्चरर्स एसोसिएसन के अध्यक्ष भी रहे। श्री नृपराजजी जैन अपने आप में एक संस्था थे। स्वभाव से अत्यन्त मिलनसार श्री नृपराजजी जैन एक सफल उद्योगपति तथा समाजसेवी थे। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सादगी और विलक्षणता से भरा था। उनमें गहराई थी एक उद्यमी की, सादगी थी एक नि:स्वार्थ समाजसेवी की, तथा शालीनता और संस्कार थे एक धर्मनिष्ठ, उत्साही और कर्तव्यपरायण व्यक्ति के। आप तन, मन, धन से पार्श्वनाथ विद्यापीठ के उत्तरोत्तर विकास हेतु सदा प्रयत्नशील रहे। जैन समाज तथा साधु-समाज़ में आपकी गहरी पैठ होने के कारण आपके माध्यम से पार्श्वनाथ विद्यापीठ को विपुल दान प्राप्त हुये और संस्था का चहुंओर विकास हुआ। आप स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स के वर्षों तक उपाध्यक्ष रहे साथ ही जैनों की अखिल भारतीय संस्था भारत जैन महामंडल के भी उपाध्यक्ष एवं अध्यक्ष रहे।

श्री नृपराजजी जैन जीवन के अन्तिम क्षण तक इस संस्था के विकास हेतु समर्पित रहे। उनका अचानक हम सबके बीच से चले जाना एक ऐसी अपूरणीय क्षति है जिसको कभी भी भरा नहीं जा सकता। आपके रूप में पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने अपना एक सच्चा साथी और प्रेरक खो दिया है। आज विद्यापीठ का कुशल नेतृत्व श्री रोमेश चन्द्र बरार, श्री इन्द्रभूति बरड़ तथा श्री सुदेव बरार के योग्य, कर्मठ और सबल हाथों में है किन्तु श्री नृपराजजी जैन की कमी हमेशा खलेगी। आपकी यादें सदा हमें सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित करती रहेंगी।

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

Contents

१.	**भारतीय दार्शनिक परम्परा में पारिस्थितिकी : जैन परम्परा के विशेष सन्दर्भ में** डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय	**1-17**
२.	**'कारक प्रकरण' का तुलनात्मक अध्ययनः कच्चायन और पाणिनि व्याकरण के आलोक में** डॉ० श्वेता जैन	**18-24**
३.	**श्रमण परम्परा समन्वित भारतीय परम्परा और कला में नारी शिक्षा के आयाम** डॉ० शान्ति स्वरूप सिन्हा	**25-37**
4.	**मुनि परम्परा का विकासः ऋग्वेद से लेकर महावीर तक** डॉ० निर्मला गुप्ता एवं श्रेयांस त्रिपाठी	**38-50**
5.	**CONCEPT OF HUMAN RIGHTS IN JAINA PHILOSOPHY** Dr. Samani Shashiprajna	**53-60**
6.	**CONCEPT OF CONSCIOUSNESS IN JAINISM** Prof. Dharmchand Jain	**61-71**
7.	**MANIFESTATION OF ETHICS IN JAINA ART** Prof. M. N. P. Tiwari	**72-77**
8.	**SALLEKHANĀ : A WAY OF FACING DEATH ARTISTICALLY** Dr. Rahul Kumar Singh	**78-84**
9.	**CONCEPT OF NON-VIOLENCE OF SIX BODIED JĪVAS IN JAINISM** Dr. Navin Kumar Srivastav	**85-93**
	पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	**94-101**
	जैन जगत्	**102-103**
	साहित्य सत्कार	**104**

Our Contributors

१. **डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय**
संयुक्त निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

२. **डॉ० श्वेता जैन**
पोस्ट डाक्टोरल फेलो, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

३. **डॉ० शान्ति स्वरूप सिन्हा**
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, दृश्यकला संकाय, का. हि. वि. वि., वाराणसी

४. **डॉ० निर्मला गुप्ता**
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, प्रा. इ. विभाग, पी. जी. कालेज, पट्टी, प्रतापगढ़

श्रेयांस त्रिपाठी
शोधछात्र, प्रा. इ. विभाग, डा. रा. म. लो. अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

5. **Dr. Samani Shashiprajna**
Assistant Professor, Dept. of Jainology, J.V.B., Ladnun

6. **Prof. Dharmchand Jain**
Professor, Dept. of Sanskrit, Jay Narayan Vyas University, Jodhpur

7. **Prof. M. N. P. Tiwari**
Professor Emeritus, Dept. of History of Art, B. H. U. Varanasi

8. **Dr. Rahul Kumar Singh**
Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

9. **Dr. Navin Kumar Srivastav**
Joint Director, International School for Jain Studies, New Delhi

भारतीय दार्शनिक परम्परा में पारिस्थितिकी: जैन परम्परा के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय

भारतीय संस्कृति मूलत: दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है- एक ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति दूसरा श्रमण संस्कृति। श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि दर्शन जैन दर्शन केवल तर्क पर आधारित सैद्धान्तिक विवेचन मात्र नहीं अपितु एक जीवन-शैली है, विधि है, मार्ग है। दोनों ही परम्पराओं ने प्रकृति के साथ मानव का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना है। पर्यावरण सिद्धान्त प्रकृति और मानव के इन सम्बन्धों और परस्परता का अध्ययन करता है। पारिस्थितिकी पर्यावरण और जैविक घटक के अन्त: सम्बन्धों को व्याख्यायित करने वाला सिद्धान्त / विज्ञान है।

पर्यावरण क्या है–'परित: आवृणोतीति पर्यावरणम्' इसके अनुसार जो चारो ओर से हमें आवृत्त करता है– वह पर्यावरण है। अत: हमारे चतुर्दिक जो कुछ भी है वह हमारा सम्पूर्ण पर्यावरण या परिस्थिति है। पर्यावरण अंग्रेजी शब्द 'Environment' का हिन्दी रूपान्तर है जो लैटिन शब्द 'Environ' से बना है जिसका अर्थ है आस–पास की वस्तुस्थिति, परिस्थिति या प्रभाव। पारिभाषिक रूप में 'पर्यावरण' शब्द जीवों की अनुक्रियाओं को प्रभावित करनेवाली समस्त अजैवीय तथा जैवीय परिस्थितियों का योग है। दूसरे शब्दों में इसे पारिस्थितिकी भी कहा जाता है। परि+स्था+क्तिन् से परिस्थिति शब्द व्युत्पन्न होता है। इसी से पारिस्थितिकी शब्द बना है जिसे अंग्रेजी में Ecology कहते हैं। Ecology जैविक घटक और पर्यावरण के अन्त:सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। टेलर के शब्दों में पारिस्थितिकी समस्त जीवों के उनके समस्त पर्यावरणों से समस्त प्रकार के सम्बन्धों के अध्ययन का विज्ञान है। पर्यावरण 'जिन घटकों से बनता है वे हैं– पृथ्वी, अग्नि, जल, आकाश तथा वनस्पति। यह एक अविभाज्य समष्टि है जिसका निर्माण अजैविक एवं जैविक घटकों के परस्पर क्रियाशील तन्त्रीं से होता है। यदि इन दोनों में पारस्परिक क्रियाशीलता न हो तो दोनों पक्ष जैविक और अजैविक एक दूसरे के लिये अर्थशून्य हो जायेंगे। मनुष्य को प्रकृति और संस्कृति के बीच में ही जीना है। जीवन एक प्रकार की विराट प्रकृति की लघु प्रतिकृति है। प्रकृति प्रदत्त है और संस्कृति का निर्माता मनुष्य स्वयं है। अजैविक घटकों को हम सामान्यत: तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:–(१) स्थल मण्डल (Lithosphere), (२) जल मण्डल (Hydrosphere) (३) वायु मण्डल (Atmosphere)। अत: पर्यावरण वातावरण का वह भाग है जहाँ जीवधारी

रहते हैं। सन्तुलित वातावरण में प्रत्येक घटक लगभग एक निश्चित मात्रा एवं अनुपात में उपस्थित रहता है। कभी–कभी वातावरण में एक अथवा अनेक घटकों की मात्रा अधिक बढ़ जाती है अथवा वातावरण में अन्य हानिकारक घटकों का प्रवाह हो जाता है जिससे वातावरण प्रदूषित हो जाता है जो कि किसी न किसी रूप में जीवधारियों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है, यही प्रदूषण कहलाता है। प्रदूषण वायु, जल एवं स्थल की भौतिक, रासायनिक और जैविक विशेषताओं का वह अवांछनीय परिवर्तन है, जो मनुष्य एवं अन्य जन्तुओं, पौधों, भवनों तथा जीवधारियों के लिए आवश्यक पदार्थों और हमारी विभिन्न वस्तुओं को किसी न किसी रूप में हानि पहुँचाता है।

पृथ्वी पर जीवन का इतिहास लगभग चार बिलियन वर्षों का है और डेढ़ करोड़ वर्ष पूर्व का मानव का इतिहास है। किन्तु मानव के इतिहास में मानव की आज जैसी दयनीय स्थिति कभी नहीं थी। 'सुजलाम् सुफलाम् मलयज-शीतलाम् शस्य श्यामलाम' पृथ्वी के बड़े ही मनोरम पर्यावरण में मानव ने आँखें खोली होंगी जहाँ सर्वत्र सन्तुलन रहा होगा। किन्तु आज मानव की घोर भौतिकवादी प्रवृत्ति, तीव्र औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण, प्राकृतिक संसाधनों का क्रूरतापूर्वक दोहन, जनसंख्या वृद्धि तथा उपभोक्तावादी संस्कृति के विकास ने प्रकृति की मूल संरचना और व्यवस्था में असन्तुलन पैदा कर दिया है। परिणामत: 'पारिस्थितिकी असन्तुलन' एक वैश्विक संकट बन गया है। आज समूची मानवता विनाश के कगार पर खड़ी है और उसका कारण है हमारे द्वारा प्रदत्त पर्यावरणीय संकट। वर्तमान में जो पर्यावरणीय समस्यायें हमारे सामने हैं उनमें ग्लोबल वार्मिंग, ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन पर्त का विघटन, अम्लीय वर्षा, बढ़ती जनसंख्या प्रदूषण आदि प्रमुख हैं। आज पृथ्वी पर मानव–जाति को सबसे ज्यादा खतरा तापमान में हो रही वृद्धि से है जिसका मुख्य कारण है 'ग्रीन–हाउस' गैसों की बढ़ती मात्रा और 'ओजोन' (पृथ्वी के वायुमण्डलीय परत के ठीक ऊपर समताप मण्डल है जिसके बीचों–बीच ओजोन गैस की एक २५ किमी लम्बी परत मौजूद रहती है जो सूर्य से आने वाली घातक पराबैगनी विकिरण को पृथ्वी तक पहुँचने से रोकती है) की टूटती या झीनी होती परत। दोनों ही समस्याओं का कारण औद्योगिक विकास और विलासी जीवन–शैली के उपकरण जैसे– मोटर–गाड़ियां, एयर कंडीशनिंग, प्लास्टिक उद्योगों, इलेक्ट्रॉनिक उद्योगों में प्रयुक्त रसायन, जीवाश्म ईंधन का व्यापक प्रयोग है। वैज्ञानिक आकड़ों से यह संकेत मिलता है कि ओजोन परत लगभग पैंतीस प्रतिशत झीनी हो गयी है। मौजूदा प्रवृत्तियों के मुताबिक ग्लोबल वार्मिंग जारी रही तो जलवायु परिवर्तन के खतरनाक व घातक परिणाम सामने आयेंगे। वैश्विक तपन का कारण वायुमण्डल

में उत्सर्जित वायु मण्डल में बढ़ती कार्बन डाई आक्साइड, मीथेन, क्लोरो–फ्लोरो कार्बन, नाइट्रस आक्साइड, हाइड्रोफ्लोरो कार्बन जैसे गैसों की मात्रा का अधिक होना है। वैज्ञानिकों के अनुसार इस समय दुनियां का तापमान १५ डिग्री सेंटीग्रेड है और वर्ष २१०० तक इसमें १.५ से ६ डिग्री तक वृद्धि हो सकती है। परिणमतः तटवर्ती क्षेत्रों का जलमग्न होना तथा जैव विविधता के ह्रास के आसन्न संकट हमारे सामने हैं। प्राकृतिक बर्फ चाहे वह हिमखण्ड के रूप में हो या विशाल ग्लेशियरों के रूप में बढ़ते ताप के कारण तेजी से पिघल रही है। हिमालय के ७६ प्रतिशत ग्लेशियर तीव्र गति से सिकुड़ रहे हैं। पिछले पाँच दशकों में माउण्ट एवरेस्ट के ग्लेशियर २ से ५ किलो मीटर तक सिकुड़ गये हैं। ग्रीनलैण्ड तथा पश्चिमी अंटार्कटिका क्षेत्र के पिघलने से समुद्री जलस्तर में १२–२० फुट की बढ़ोत्तरी हो सकती है जिससे विश्व के करीब ३० तटीय क्षेत्रों के जलमग्न होने की सम्भावना बढ़ गयी है। पर्यावरण प्रदूषण से जैव विविधता का लगातार ह्रास हो रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार पृथ्वी पर जल–थल क्षेत्रों में करीब १.४० करोड़ तक सूक्ष्म जीवों वनस्पतियों, पेड़-पौधों व वन्य जीवों की प्रजातियाँ हैं। रिपोर्ट के अनुसार इनमें से ज्ञात प्रजातियाँ १७.५ लाख से कुछ ही ज्यादा हैं। लगभग डेढ़ दशक पूर्व कराये गये सर्वेक्षण के मुताबिक भारतीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय इन क्षेत्रों में जीव–जन्तुओं की करीब ७५ हजार, पेड़-पौधों की ४५ हजार, स्तनपायी जीवों की ३४०, समुद्री सीप (घोंघे) व अन्य सूक्ष्म जीव (ज्ञात) लगभग ५० हजार कीड़े–मकोड़ों की प्रजातियाँ मानता है। इनके अलावा वनस्पतिक जगत् में १५ हजार पुष्पीय पौधे, पाँच हजार समुद्री वनस्पतियाँ (शैवाल आदि), २० हजार फफूंद (फंगस), १६ हजार लाइकेन, २७ हजार ब्रायोफाईट्स और लगभग ६०० टेरिडोफाईट्स प्रजातियाँ हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि विकास कार्यों के कारण गति जितनी तेज है उससे सैकड़ों ज्ञात तथा लाखों अज्ञात प्रजातियों के विनाश का खतरा पैदा हो चुका है।

पर्यावरण प्रदूषण –वैज्ञानिक दृष्टि से प्रदूषण –वायु, जल एवं मृदा की भौतिक, रासायनिक तथा जैविक विशेषताओं का अवांछनीय परिवर्तन है जो मनुष्य और अन्य जन्तुओं, पौधों एवं प्राकृतिक सम्पदाओं को किसी न किसी रूप में नुकसान पहुंचाता है। इनका कारण मनुष्य स्वयं है। यदि मानव बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रकृति में उपलब्ध संसाधनों का उपयोग/उपभोग अपनी आवश्यकता के अनुरूप करे तो उसे कभी संसाधनों की कमी न हो किन्तु उसकी आकाश के समान अनन्त इच्छा और लालच उसके लिये पर्यावरणीय संकट उत्पन्न करते हैं। महात्मा गांधी ने कहा था 'There

is enough on the erath for man's need but less for man's greed' ।
पर्यावरण प्रदूषण को मुख्य रूप से निम्नांकित वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है– १. वायु प्रदूषण २. जल प्रदूषण ३. मृदा प्रदूषण ४. ध्वनि प्रदूषण ५. रेडियो धर्मिता प्रदूषण, ६. ठोस अपशिष्ट प्रदूषण, ६. वनस्पति प्रदूषण तथा ७. सामाजिक–सांस्कृतिक प्रदूषण।

वायु प्रदूषण– यह आज के युग की एक ज्वलन्त समस्या है। वायु हमारे जीवन का आधार है क्योंकि सांस हम वायु के कारण ही लेते हैं। एक व्यक्ति की दिन भर में कुल २२००० बार श्वास–प्रश्वास की आवृत्तियां चलती हैं और इन आवृत्तियों में व्यक्ति कुल १६ किलोग्राम वायु ग्रहण करता है। किन्तु क्या हम शुद्ध वायु ग्रहण कर रहे हैं? शुद्ध वायु का ९९ प्रतिशत आक्सीजन, नाइट्रोजन, आर्गन और कार्बन–डाई–आक्साइड इन चार गैसों द्वारा निर्मित है। इनके संगठन हैं- प्राकृतिक जैसे ज्वालामुखी विस्फोट, दलदलीभूमि, आग लगना आदि तथा मनुष्यकृत प्रदूषण जैसे कल–कारखानों से, बड़े-बड़े उद्योगों से, वाहनों से निकलते धुएं, जिसमें कार्बन–मोनो–आक्साइड का प्राबल्य होता है। ये सभी जीव–निर्जीव पदार्थों को हानि पहुंचाते हैं। आज वायु प्रदूषण के कारण प्रति वर्ष तीन करोड़ लोग मृत्यु का शिकार हो रहे हैं। तीन दशकों में कार्बन उत्सर्जन की मात्रा दुगुनी हुई है। संयुक्त राज्य अमेरिका अकेला विश्व के २४ प्रतिशत कार्बन उत्सर्जन के लिये जिम्मेदार है। एक अनुमान के अनुसार वायु प्रदूषण की यही गति रही तो अगले सौ वर्षों में पृथ्वी पर कार्बनडाई ऑक्साइड की मात्रा दुगुनी हो जाएगी। परिणामत: पृथ्वी का तापमान बढ़ेगा, ध्रुवों की बर्फ पिघलेगी और समुद्र का जल स्तर बढ़ जाएगा, और विश्व के कई समुद्र तटीय महानगर समुद्र में विलीन हो जाएंगे।

जल प्रदूषण – जल ही जीवन है, एक सार्वभौमिक सत्य है।[९] पृथ्वी पर पाये जाने वाले प्रत्येक जीव का जीवन भी जल पर ही निर्भर होता है। अत: इसकी उपलब्धता सबके लिये नितान्त आवश्यक है। किन्तु आज विश्व की चालीस प्रतिशत आबादी स्वच्छ जल की कमी की समस्या से जूझ रही है। विश्व के आधे नम या आर्द्र क्षेत्र समाप्त हो गये हैं। स्वच्छ जल के भंडारों का १/५ भाग समाप्त हो गया है। परम्परागत स्रोत सूख रहे हैं। आज जल का अपव्यय किया जा रहा है। भूतल से अनेक कल कारखानों को चलाने के लिये जल का दोहन हो रहा है। विकसित देशों में जल का अपव्यय अधिक हो रहा है और उसका कारण है विलासिता पूर्ण जीवन। जहां एक शौचालय से काम चलाया जा सकता है वहां विकसित देशों में प्रत्येक

व्यक्ति के लिये अलग शौचालय होता है और एक बार फ्लश करने पर ८–१० लीटर पानी का अपव्यय होता है। आज हम विकास की अंधी दौड़ में नदियों, जलाशयों पर बड़े- बड़े बांध बनाकर जल के स्वाभाविक प्रवाह को रोक रहे हैं। उद्योंगों के अपशिष्ट को नदियों में प्रवाहित कर उनको प्रदूषित कर रहे हैं। पतित पावनी नदियां मैला ढोने का कार्य कर रही हैं तथा रोज सूख रही हैं। पानी का स्रोत भी दिन पर दिन कम हो रहा है। एक अनुमान के अनुसार आने वाले १८ वर्षों मे ५० प्रतिशत पानी की कमी होगी।

वनस्पति प्रदूषण–वनस्पतियां भारत की अमूल्य निधि हैं। भारत में वनस्पतियों की कुल ४५०० प्रजातियां हैं। वनस्पतियों का पर्यावरण संतुलन में बहुत बड़ा हाथ है। आज शहरी विकास के नाम पर लगातार जंगल काटे जा रहे हैं। बढ़ते उद्योगों में लकड़ियों का प्रयोग लगातार हमारी वनसम्पदा का ह्रास कर रही हैं। भारत में प्रति व्यक्ति वन सम्पदा ०.०८ हेक्टेयर है जबकि प्रति व्यक्ति इसे ०.४७ हेक्टेयर होना जरूरी है। १९९० तक विश्व के २.४ प्रतिशत वनों का विनाश हो चुका था। करीब ५०००० किलोमीटर जंगल प्रति वर्ष नष्ट हो रहे हैं। ग्लोबल वार्मिंग के कारण २५ प्रतिशत पौधों का अस्तित्व संकट में है। वनस्पतियों के कटाव के कारण भूमि कटाव का ग्राफ लगातार बढ़ता जा रहा है। किन्तु हम वनस्पतियों का लगातार दोहन कर रहे हैं।

ध्वनि प्रदूषण– ध्वनि प्रदूषण अनेक प्रकार के वाहनों, कल कारखानों के सायरन, विमानों की आवाज, अत्यधिक शोर के साथ बजने वाले लाउडस्पीकर तथा अनेक प्रकार की मशीनों के कारण होता है। अधिक तेज ध्वनि से मनुष्य की श्रवण शक्ति का ह्रास होता है। ध्वनि प्रदूषण हृदयरोग, उच्चरक्तचाप, तनाव, कुण्ठा, चिड़चिड़ापन, बहरापन का कारण बनता जा रहा है। ध्वनि प्रदूषण के प्रभाव स्वरूप कभी-कभी स्नायु तन्त्रों पर इतना जोर पड़ता है कि मनुष्य पागल हो जाता है।

रेडियो धर्मिता प्रदूषण– यह प्रदूषण परमाणु शक्ति उत्पादन केन्द्रों और परमाणु परीक्षण के फलस्वरूप अस्तित्व में आया है। विस्फोट के समय उत्पन्न रीडियोधर्मी पदार्थ वायुमण्डल की बाह्य परतों में प्रवेश कर जाते हैं तथा बाद में ठंडे तथा संघनित होकर बूदों या ओस के रूप में बहुत छोटे–छोटे धूलकणों के रूप में वायुमण्डल में प्रदूषण फैलाते हैं। यह मानव की न केवल आज बल्कि आनेवाली पीढ़ियों के स्वास्थ्य के लिये भी अत्यन्त घातक है।

मृदा प्रदूषण– आज मृदा प्रदूषण के कारण मरुस्थलीकरण का विकास हो रहा है। अत्यधिक पैदावार की लालच में मानव कीटनाशकों एवं उवर्रकों का अन्धाधुन्ध एवं असंतुलित प्रयोग कर रहा है। फलत: मृदा की उर्वरा शक्ति नष्ट हो रही है। मिट्टी की शुष्कता, अपरदन आदि में वृद्धि हो रही है। फलत: रेगिस्तान बढ़ रहे हैं। भोजन के माध्यम से कीटनाशकों के हानिकारक तत्त्व मानव शरीर में पहुंचकर अनेकानेक रोगों को उत्पन्न कर रहे हैं। विकास की गति के साथ भूक्षरण की गति भी बढ़ती जा रही है। कारण स्पष्ट है मिट्टी को पैसे रुपये में बदलना। भारत में प्रतिवर्ष ६०० करोड़ टन मिट्टी का क्षरण होता है और ७०० करोड़ रुपये मूल्य के उर्वरक समाप्त हो जाते हैं। दरअसल विकास एवं पर्यावरण एक दूसरे के विरुद्ध नहीं है, प्रकृति का शोषण करने के बदले उसके साथ सहयोग करके हम विकास एवं पर्यावरण को एक दूसरे का पूरक बना सकते हैं।

सामाजिक–सांस्कृतिक प्रदूषण– इसका तात्पर्य उन सामाजिक संबन्धों, समूहों, संगठनों, संस्थाओं के सामाजिक ढांचे से जिसका व्यक्ति एक हिस्सा है। सांस्कृतिक पर्यावरण मनुष्य द्वारा सीखे हुए व्यवहारों तथा उसके अनुभवों से बना है। इसके अन्तर्गत धर्म, नैतिक, प्रथायें, परम्परायें, जनरीतियां, लोकाचार, व्यवहार प्रतिमान तथा अन्य बहुत से नियम हैं जो सदैव हमारे जीवन को चारों ओर से घेरे रहते हैं।

१९७० के दशक में ही यह अनुभव किया गया कि वर्तमान विकास की प्रवृत्ति असंतुलित है एवं पर्यावरण की प्रतिक्रिया उसे विनाशकारी विकास में परिवर्तित कर सकती है। तब से लेकर वर्तमान वैश्विक स्तर पर पर्यावरण सम्बन्धित समस्याओं के समाधान हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कई प्रयास किये जा चुके हैं। जैसे- १९७२ का स्टॉक होम सम्मेलन, १९९२ में रियोडिजेनरो सम्मेलन, १९९७ में क्योटो संधि, २००७ में बाली सम्मेलन, २०१४ ग्लोबल इनवायरनमेण्ट फैसिलिटी (जी०ई०एफ०) कौसिल की ४६ मीटिंग और २०१५ में यूनाइटेड नेशन्स की पेरिस क्लाइमेट चेंज सम्मिट में इस विषय पर गहन विचार विमर्श हुआ, किन्तु कोई ठोस उपाय नहीं किया जा सका। परिणामत: पर्यावरणीय समस्याएँ ज्यो की त्यों बनी हुई हैं।

भारतीय चिन्तनपरम्परा में पर्यावरण संरक्षण

आइये देखें हमारी भारतीय दार्शनिक चिंतन परम्परा कहां तक इन समस्याओं का समाधान करती है–

वेदों से लेकर, उपनिषदों, गीता, सांख्य–योग, मीमांसा आदि दर्शनों में पर्यावरण पर चिन्तन हुआ है किन्तु चूंकि पारिस्थितिकी या पर्यावरण पद अर्वाचीन है, इसलिये उन

दर्शनों में उनसे मिलते–जुलते पदों का व्यवहार हुआ है। **न्याय–वैशेषिक** तथा **वेदान्त** में हमें पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के घटकों का समुचित उल्लेख नहीं मिलता। सभी वैदिक दर्शनों का उत्स वेद है। अतः आरम्भ हम वेदों से ही करेंगे।

वेद विश्व–साहित्य के सर्व प्रामाणिक तथा प्राचीनतम ग्रंथ हैं जिनमें पर्यावरण संरक्षण की चेतना स्पष्टतः परिलक्षित होती है। वैदिक परम्परा की विश्वीय दृष्टि "माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या"[२] तथा "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भाव को जीवन के 'सत्यम् शिवं सुन्दरम्' का आदर्श मानती है। वेदों को धर्म का मूल कहा गया है "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"। यहाँ धर्म से तात्पर्य पर्यावरण की आस्था से है क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वेदों से सम्बन्ध है। वेद के ऋषियों को यह ज्ञात था कि यदि भूमि, अन्तरिक्ष, जल, वनस्पति आदि दूषित होंगे तो इन पर निर्भर रहने वाले प्राणियों का जीवन संकटापन्न होगा। यजुर्वेद के शान्ति पाठ में तीनों लोकों में जल, वनस्पति, औषधि तथा सभी देवों की शांति के लिए प्रार्थना की गई है। "ऊँ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षः शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्वह्मिः शान्ति, सर्वशान्ति, शान्तिरेवशान्तिः सा मा शान्तिरेधिः।[३] यह प्रार्थना विश्व में शान्ति बनाये रख़ने के साथ पर्यावरण प्रबन्धन के प्रति एक सन्देश है। वैदिक वाङ्मय में पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि वायु इन पाँच तत्त्वों को प्रदूषण–मुक्त बनाने की दृष्टि से इनकी अनेकविध उपासना की गई है। वेदों में मानव तथा प्रकृति के मध्य अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना गया है। पर्यावरण के सन्दर्भ में वेदों में परिधि, परिभू, परिवृत्त आदि शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। वहां परिधि शब्द सुरक्षा रूप प्रकार अथवा परकोटा आदि अर्थों में आया है। परमपिता परमात्मा ने जब जीवों की उत्पत्ति की और स्वयं जीवों को अपना परिधि बनाया तब स्वयं को भी परिधि बनाया।[४] प्राचीन युग में पर्यावरण के सभी स्त्रोतों– पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति आदि को देवता मानकर इनका अर्चन और संरक्षण किया जाता था। पर्जन्य, मित्र, वरुण, चन्द्र और सूर्य आदि पॉच तत्त्व पर्यावरण संरक्षक होने के नाते हमारे पिता तुल्य माने गये हैं। पर्जन्य वृष्टि द्वारा जल सिंचन कर हमारी रक्षा करता है, मित्र प्राण वायु के रूप में हमारा जीवन रक्षक है, वरुण देव जल प्रदान कर हमारे जीवन को गतिशील बनाते हैं, चन्द्रमा औषधियों के स्वामी हैं, पृथ्वी पर आती इनकी अमृतमयी किरणों से पर्यावरण की रक्षा होती है। सूर्य की किरणों से मनुष्य को संजीवनी शक्ति मिलती है। अथर्ववेद में पर्यावरण के संघटक तीन तत्त्वों को माना गया हैं– जल, वायु और औषधियां। ये भूमि को घेरे हुए हैं, और मानव मात्र को प्रसन्नता देते हैं, अतः इन्हें 'छन्दस्' (छन्द) कहा गया है।[५]

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वियेतिरे, पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि।

इनके नाम और रूप अनेक हैं, अत: इन्हें 'पुरुरूपम्' कहा गया है। प्रत्येक लोक को ये तत्त्व जीवन रक्षा के लिए दिये गये हैं। ''जीवेम शरद: शतम्'' का उद्घोष करने वाले वेद शतायु होने के लिए स्वच्छ जल, विशुद्ध अन्न, पवित्र प्राणवायु एवं अकलुषित भूमि को महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में व्याख्यायित करते हैं। वैदिक वाङ्मय में विविध पर्यावरण प्रदूषणों तथा उनके शोधन के उपायों का निर्देश विभिन्न वैदिक ऋचाओं में प्रतिविम्बित होता है।

ऋग्वेद में वायु को भेषज गुणों से युक्त स्वीकार किया गया है– हे वायु! अपनी औषधि ले जाओ, और यहाँ के सब दोष दूर करो, क्योंकि तुम ही सभी औषधियों से भरपूर हो- 'आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रप:। त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे'।[६]

ऊर्जा के अपरिमित स्रोत सूर्य को 'जगत् की आत्मा' कहकर उसकी अभ्यर्थना की गयी है। उपनिषदों में सूर्य को प्राण की संज्ञा दी गई है। यज्ञों के माध्यम से वायुमण्डल को शुद्ध करना भी वेदों की चिन्ता रही है। वैदिक काल में पर्यावरण के परिस्कार के लिए यज्ञ–हवन संपन्न किये जाते थे। ईशावस्योपनिषद्[७] अपने प्रथम मन्त्र में ही जगत् के सम्पूर्ण सजग और बुद्धिजीवी प्राणियों को प्रकृति के प्रति निष्काम भावना रखते हुये भोग में त्याग का सन्देश देता है।

यजुर्वेद में वृक्षों को कुल्हाड़ी से यज्ञ के अतिरिक्त कार्यों के लिये न काटने का निर्देश है[८] साथ ही वृक्ष–संरक्षण के लिये 'वनानांपतये नम:', 'वृक्षाणां पतये नम:', 'ओषधीनांपां पतये नम:', 'अरण्यानां पतये नम:', 'नमो वन्याय च' आदि मन्त्र द्रष्टव्य हैं। मत्स्यपुराण में वृक्ष के महत्त्व को दर्शाते हुए उसे दस पुत्रों के बराबर माना गया है –'दशह्रदसम: पुत्र: दश पुत्रसमो द्रुम:'।

पृथ्वी संरक्षण के विषय में अथर्ववेद का सम्पूर्ण पृथिवी सूक्त द्रष्टव्य है। जल में गन्दी या विजातीय वस्तुओं को डालने का निषेध किया गया है- 'नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात् निष्ठीवेत्।[९] अथर्ववेद में जल के विषय में कहा गया है– ''आपो विश्वस्य भेषजो''। यजुर्वेद में ''मित्रस्याहं चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षे''[१०] कहकर सभी प्राणियों के प्रति सहृदयता का परिचय देना ही जीवन का सही लक्षण माना गया है। अत: पर्यावरणीय समस्याओं से निजात पाने के लिये हमें पुन: अपने ज्ञानराशि वेदों की

तरफ लौटना होगा, जिसमें भविष्यद्रष्टा ऋषि–महर्षियों ने भविष्य में होने वाले पर्यावरण की रक्षा के अनेकशः उपाय बतलाए हैं।

भगवद्गीता में पृथ्वी, अग्नि, जल, आकाश, वायु और वनस्पति को पर्यावरण के घटक के रूप में बताया गया है। भगवान् ने गीता[११] में कहा है–

''भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में परां।
जीवभूतां महावाहो ययेदं धार्यते जगत्।।''

आज पर्यावरण के ये सभी घटक प्रदूषित हो गये हैं। वैचारिक प्रदूषण की निवृत्ति हेतु– शिवसंकल्प सूक्त– तन्मेमनः उपचार प्राप्त होते हैं। वैचारिक प्रदूषण की निवृत्ति हेतु– शिवसंकल्प सूक्त– 'तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु', तथा 'न वित्तेन तर्पणीयो मुनष्यः' इत्यादि मंत्र द्रष्टव्य हैं।

बाह्य प्रदूषण के साथ-साथ आभ्यन्तर प्रदूषण भी पारिस्थितिकी के असंतुलन का मुख्य कारण है–आभ्यन्तर या आन्तरिक प्रदूषण के अन्तर्गत मन का तथा बुद्धि का प्रदूषण आता है। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के भेद से अष्टधा कहा है। इसका निर्धारण करने वाला ईश्वर है। प्रकृति ईश्वर का ही रूप है इसलिए प्रकृति की पूजा से ही मानव जाति की समृद्धि संभव है।

'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति' के रूप में सांख्यदर्शन प्रकृति को परिभाषित करता है। सांख्यदर्शन के अनुसार मन तथा बुद्धि दोनों ही अन्तःकरण हैं। संकल्प तथा विकल्प करने वाला इन्द्रिय 'मन' है। यह ज्ञानेन्द्रिय भी है तथा कर्मेन्द्रिय भी। किसी विषय का निर्णयात्मक रूप प्रदान करने वाली अन्तरिन्द्रिय बुद्धि है। आज के समय में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर – इन छः विकारों के कारण हमारा मन प्रदूषित हो चुका है तथा अविवेकता के कारण बुद्धि की निर्णयात्मिका शक्ति भी समाप्त हो गयी है। 'मन' (चित्त) का निर्मलीकरण ही 'मनःपर्यावरण' है। यह एक ऐसा पर्यावरण है जिसमें 'मन' 'मनोविकारों' से रहित होकर निर्मल, सन्तुलित एवं प्रसन्न होकर 'स्वास्थ्य' को संरक्षित करता है। अवधेय है कि पातंजलयोग में 'चित्त' के पर्याय को ही 'मन' कहा है। मनःपर्यावरण एवं स्वास्थ्य दोनों के बीज योगसूत्रों में वर्तमान हैं।

बौद्ध दर्शन में करुणा और दया को केन्द्र में रखकर किसी भी प्रकार की हिंसा का सर्वथा निषेध करते हुए प्राणिमात्र के प्रति प्रेम एवं सौहार्द की भावना को प्रतिष्ठित किया गया है जो भगवान बुद्ध की पर्यावरण के प्रति चिन्ता और प्रेम को दर्शाता है। जैनों के पंचमहाव्रत की तरह गौतम बुद्ध ने प्रज्ञा, शील और समाधि को बौद्ध आचार के मौलिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा निर्वाण-प्राप्ति के लिये इन्हें आवश्यक माना। शील के अन्तर्गत–पंचशील की प्रतिष्ठा की गयी जिसमें– पाणातिपात वेरमणी, अदिन्नादान वेरमणी, मुसावाद वेरमणी, अब्रह्मचरिय वेरमणी तथा सुरा–मेरेय–मज्ज पमादट्ठाण वेरमणी के सिद्धान्त का पालन बौद्ध भिक्खुओं को तथा श्रावकों के लिये आवश्यक माना गया। अपने धम्मचक्कपवट्टनसुत्त में बुद्ध ने अनेक स्थलों पर मानव को प्रकृति तथा उसमें व्याप्त जीवों के प्रति दया और करुणा का भाव रखते हुए हिंसा से विरत रहने को कहा है। 'चरित्त भिक्खवे चारीकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय' जैसे सुत्त उनकी इसी प्रतिबद्धता को परिपुष्ट करते हैं।

मीमांसा दर्शन में यज्ञों में प्रयुक्त हवन सामग्री, हविष एवं घृत आदि से पर्यावरण की शुद्धि का उल्लेख मिलता है। वैदिक ऋषि कहता है– 'आजुहोता हविषा मर्जयध्वम्' अर्थात् तुम अग्नि में शोधक द्रव्यों की आहुति देकर वायुमण्डल शुद्ध करो। वर्तमान विज्ञान भी यज्ञों की आहुति से समुत्पन्न धुयें को हानिकारक वायुमण्डलीय जीवाणुओं को नष्ट करने में कारक मानता है।

जैन अध्यात्म और पर्यावरण

अब यदि हम पर्यावरणीय नीति को जैन अध्यात्म शास्त्र के आलोक में देखें तो हम पाते हैं कि जैन धर्म में बड़ी गहनता से पर्यावरणीय समस्याओं पर विचार-विमर्श हुआ है। जैन धर्म निवृत्तिवादी परम्परा का प्रतिनिधि दर्शन होने के कारण उसका उच्चतम आदर्श मोक्ष तो है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह वैश्विक एवं सामाजिक समस्याओं से सरोकार नहीं रखता। जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव पर्यावरण के प्रथम संवाहक महापुरुष थे। उन्होंने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और कला का सिद्धान्त दिया। उन्होंने पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीव की अवधारणा दी और पर्यावरण की परिधि को असीमित कर दिया। जैन दर्शन के अनुसार सारा पर्यावरण अनन्त जीवों से आपूर है। अत: किसी भी रूप में उनकी हिंसा पर्यावरण के प्रदूषण को उत्पन्न करेगा। महावीर ने 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त दिया। उनके द्वारा उपदेशित आचारांग जो जैन साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है,

में षट्काय जीवनिकाय के संरक्षण की बात प्रमुखता से कही गयी है। आचारांग के अनुसार 'सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं'[१२] अर्थात् सभी प्राणी जीना चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता। सभी प्राणियों को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। 'सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला'[१३]। अतः किसी भी जीव की, किसी भी प्रकार अर्थात् नौ कोटियों से (मन, वचन, काया से न करे, न करवाये, न करने वाले का अनुमोदन करे) हिंसा नहीं होनी चाहिए। जैन नीतिशास्त्र में जीव के बद्ध और मुक्त दो प्रमुख विभाग किये गये हैं। मुक्त जीव तो संसार प्रक्रिया से परे हैं। बद्ध के त्रस और स्थावर दो प्रकार के होते हैं। स्थावर के पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय –संसारिणस्त्रसस्थावराः। पृथिव्यपतेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः[१४] ये पांच तथा त्रस के आठ भेद बताये गये हैं– अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिद और उपपातज (कुम्भी आदि)। त्रस जीव में चैतन्य व्यक्त होता है तथा स्थावर में अव्यक्त। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये ४ भेद त्रस जीवों के हैं। स्थावर आत्मा के पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं वनस्पति पांच भाग किये गये हैं जो एकेन्द्रिय होते हैं। इस प्रकार कुल छः जीव निकाय जैन नीतिशास्त्र में मान्य हैं। चेतन जीवों के लिये जैन दर्शन की यह सूक्ष्म दृष्टि उसके जीवों के प्रति संरक्षण एवं उत्कृष्ट भाव को दर्शाती है। महावीर ने स्पष्टतः जोर देकर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रसकाय को साक्षात् प्राणधारी जीव निर्देशित किया। इनमें भी जीव माना। विज्ञान ने सर जगदीश चन्द्र बोस की खोज के आधार पर वनस्पतियों को जीव मानना प्रारम्भ किया। किन्तु जैन दर्शन तो अपनी स्थापना के समय से ही षट्जीव निकाय में जीवन मानता है अर्थात् पृथ्वी, वायु, जल, वनस्पति, अग्नि आदि सभी में जीवन मानते हुए उनकी किसी भी रूप में हिंसा की निन्दा करता है।

'समवायांगसूत्र'[१५] में सत्रह प्रकार के संयम बताए गए हैं– पृथ्वीकाय संयम, अपकाय संयम, तेजस्काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय संयम, द्वीन्द्रिय जीव संयम, त्रीन्द्रिय जीव संयम, अजीवकाय संयम, प्रेक्षा संयम, उपेक्षा संयम, अपहृत्य संयम, वचन संयम और काय संयम। अतः स्पष्ट है कि जैन दर्शन प्रकृति के सूक्ष्मतम जीवों से लेकर विशालकाय जानवरों एवं अजैविक तत्त्वों के भी संरक्षण के सिद्धान्त का पक्षधर है। साधु वर्ग एवं श्रावक वर्ग के लिए पर्यावरण शुद्धि हेतु जैन दर्शन में विशिष्ट आचार संहिता बनायी गयी है। श्रमणों के लिए पंचमहाव्रत का कठिन पालन तथा गृहस्थों के लिए बारह व्रतों (५ अणुव्रत–, अहिंसा (बन्ध, वध, छविच्छेद, अधिभारारोपण, भक्तपानव्यवच्छेद), अस्तेय (स्तेनप्रयोग, हीनाधिक्य

मानोन्नयन, चोरार्थदान), सत्य (मिथ्योपदेश, असत्यदोषारोपण, कूटलेखक्रिया, न्यास उपहार, मन्त्रभेद), स्वदार संतोष (इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकरण तथा कामभोगतीव्र अभिलाषा) एवं इच्छापरिमाण (क्षेत्र एवं वस्तु परिमाण, हिरण्य-सुवर्ण के परिमाण का अतिक्रमण, द्विपद-चतुस्पद परिमाण का उल्लंघन, धनधान्यसीमा-रेखा अतिक्रमण आदि), तीन गुणव्रत भोगोपभोगपरिमाण, दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरमण तथा ४ शिक्षाव्रतों -सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास एवं अतिथि संविभाग के पालन का विधान किया गया है। अपने संयम और सम्यक् आचरण से इस षट्कायिक पर्यावरणीय संहति की रक्षा जैन धर्म का मूल उद्देश्य है।

सम्पूर्ण सृष्टि पंचमहाभूत अर्थात् पंचतत्त्वों से विनिर्मित है। अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश। यही किसी न किसी रूप में जीवन का निर्माण करते हैं, इसे पोषण देते हैं। इन सभी पांचों तत्त्वों में जीवन का अस्तित्व मानना जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट स्वीकृति है। इसलिए सूक्ष्म जीव की हिंसा से बचने के लिए जैन-धर्म ने जितनी गहराई से विचार किया है उतना अन्य किसी धर्म ने नहीं किया। जैन दर्शन में नवकोटि अहिंसा पालन का विधान है। हिंसा क्या है- प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् *हिंसा*'[१६] *अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के वशीभूत होकर दस* प्राणों (पंच ज्ञानेन्द्रिय, तीन योग, एवं श्वासोच्छ्वास) वाले जीव को काटना, छेदना, मारना हिंसा है। द्रव्य हिंसा एवं भाव हिंसा, हिंसा के दो मुख्य भेद हैं। जैन धर्म-दर्शन का मानना है कि व्यक्ति के जीवन यापन में कम से कम प्राणियों का घात होना चाहिए। इसलिये मानव का प्रयास होना चाहिये कि वह यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक बोले, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक ठहरे, यत्नपूर्वक सोये, यत्नपूर्वक भोजन करे और संयमपूर्वक रहे ताकि उससे पापकर्म का बन्धन न हो। उसकी यह अहिंसक भावना जैनागम दशवैकालिक में स्पष्ट है-

'जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं मासे, जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं ण बन्धइ।।[१७]

अर्थात् व्यक्ति यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक ठहरे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोये, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक बोले तो इस प्रकार के जीवन से यह पाप-कर्म को नहीं बाँधता है एवं पर्यावरण संरक्षण में भी सहयोग देता है।

पाश्चात्य विकासवादियों ने जहां संघर्ष और योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) का सिद्धान्त दिया वहीं जैनों का स्पष्ट उद्घोष है- 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[१८]

अर्थात् सभी जीवों का अस्तित्व परस्पर एक दूसरे पर आश्रित है या सभी एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे– वृक्ष हमें स्वच्छ और शुद्ध वायु, जल, ईंधन आदि देते हैं जो जीवनोपयोगी है और हम उनके लिये कार्बन–डाई–आक्साइड के रूप में जीवनोपयोगी तत्त्व देते हैं। जैन मान्यतानुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जीवत्व से पूर्ण है। जगत् में ऐसा कोई भी नहीं जिसमें जीवत्व न हो। जैन धर्म 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं' आदि दशविध होने के साथ एक आत्मलक्षी धर्म है, अपनी साधना में जीव को सर्वाधिक महत्त्व देता है। क्योंकि जीव ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण बन्धन में आता है और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और योगगुप्ति इन पांच हेतुओं के कारण मुक्ति को प्राप्त होता है। अहिंसा और दया इसके प्रमुख पर्यावरणीय आधार हैं। जैन आध्यात्मिक विकासक्रम को देखें तो जीव प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीव्रतम उदय के कारण विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है। वह दुःख में भी सुख देखता है और तदहेतु नाना उपक्रम करता है। प्रकृति के साथ छेड़छाड़ भी वह उसी सुख की मृगमरीचिका के कारण राग–द्वेष युक्त हो करता है। जैन धर्म का मोक्ष पथिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर आसक्ति, ममता, अहंकार से ऊंचा उठकर अनासक्त या वीतराग हो जाता है। जंगम तथा स्थावर सभी प्राणियों में उसमें समता का उदार भाव परिव्याप्त हो जाता है।

निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएषु तसेसु थावरेसु च।।
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ।।[१९]

वह लाभ या अलाभ, सुख या दुःख, जीवन या मृत्यु, निन्दा या प्रशंसा, मान या अपमान में एक समान रहता है। जीवन में शान्त भाव परिव्याप्त हो जाता है। वह शरीर में रहकर भी नहीं रहता। जैन अध्यात्म साधना के परम साधक श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं–

देह छतां जेहनी दशा, वरते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरण मा हो वन्दन अगणीत।[२०]

अनासक्त में समभाव आ जाता है, वह संग्रह वृत्ति से दूर हो जाता है जो पर्यावरण असंतुलन और प्रदूषण का मुख्य हेतु है। जैन धर्म ने प्रकृति के साथ तादात्म्य तथा पर्यावरण को अत्यन्त गहराई से समझा और उसे धर्म एवं मानवता से जोड़ दिया। प्रकृति के साथ तादात्म्य जैन धर्म की एक विशेषता है।

जैन अध्यात्म का चरमोत्कर्ष तीर्थंकर पद प्राप्ति है। यदि हम जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के चिह्न देखें तो उनका पर्यावरण से सीधा सम्बन्ध परिलक्षित होता है। तीर्थंकरों के प्रतीक-चिह्न पर्यावरण-संरक्षण को अपने में समेटे हुए है। तीर्थंकरों ने प्रकृति जन्य-पशु और वनस्पति-जगत् के प्रतीक-चिह्नों से अपनी पहचान को जोड़ा। इनमें बारह थलचर-जीव, जैसे- वृषभ, हाथी, घोड़ा, बंदर, गैंडा, महिष, शूकर, सेही, हिरण, बकरा, सर्प और शेर ये सभी जैन तीर्थंकरों के लांछन हैं। इनमें शूकर प्राणियों से उत्सर्जित-मल का भक्षणकर पर्यावरण को शुद्ध रखने वाला एक उपकारक-पशु है। सिंह को छोड़ शेष सभी ग्यारह पशु शाकाहारी हैं, जो शाकाहार की शक्ति के संदेशवाहक हैं। चक्रवाक नभचर-प्राणी है तथा मगर, मछली और कछुआ जलचर-पंचेन्द्रिय जीव हैं। ये जल-प्रदूषण को नष्ट करने में सहायक जल-जंतु हैं। लाल एवं नीला कमल तथा कल्पवृक्ष, वनस्पति-जगत् के प्रतिनिधि हैं। इनमें कमल सुरभित-पुष्प है, जो वायुमण्डल एवं पर्यावरण को न केवल सौन्दर्य प्रदान करता है, वरन सुगन्धित भी करता है। इसके अतिरिक्त कल्पवृक्षों की कल्पना, स्वस्तिक-चिह्न, वज्रदण्ड, मंगल-कलश, शंख और अर्धचन्द्र सभी मानव-कल्याण की कामना के प्रतीक हैं और किसी न किसी अर्थ में प्रकृति और पर्यावरण से जुड़े हुए हैं।

जैनों के समस्त जैनतीर्थ, अतिशय, सिद्धक्षेत्र, निर्वाण-क्षेत्र हरे भरे वृक्षों से युक्त पर्वत शिखरों एवं प्रकृति की मनोरम-उपत्यकाओं एवं प्रकृति की गोद में स्थित हैं और सभी प्रदूषण से मुक्त हैं। यह निश्चित रूप से उनके प्रकृति के प्रति आस्था और प्रेम का परिचायक है।

अध्यात्म साधना के क्षेत्र में जैन मुनि जीवनभर के लिए एक स्वीकृतचर्या का पोषक होता है। मुनि के लिये स्वीकृतचर्या पर्यावरण संरक्षण का एक अनुपम उदाहरण है। साधु के अट्ठाइस मूलगुणों में पाँच महाव्रतों, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों के विषयों का निरोध, छः आवश्यक और सात गुप्ति और समितियों का विधान है। ये सभी साधक के अपनी आत्मा में अवस्थिति का साधन हैं। समिति के पालनार्थ वह मौनव्रत का संयम रखता है, जिसे ध्वनि-प्रदूषण के विसर्जन का एक प्रयास माना जा सकता है। मुनि अपने मल-मूत्र का क्षेपण स्थण्डिल, निर्जन्तु व एकान्तस्थान में करता है, जो वायु-प्रदूषण के बचाव का एक प्रशंसनीय प्रयास है।

जल संरक्षण की दिशा में जैन मुनियों का प्रारम्भ से प्रयास रहा है। साधु-साध्वियों द्वारा अपने शरीर के स्नानादि-संस्कार के निषेध के पीछे उनका अहिंसा एवं जल

अपव्यय रोकने का ही भाव है। जल हमारे जीवन का एक मुख्य स्रोत है। जल में पैदा होने वाली कतिपय सूक्ष्म वनस्पतियां पृथ्वी पर ५० से ७० प्रतिशत तक प्राणवायु का उत्पादन करती हैं। जल प्रदूषण से अप्काय सहित अन्य जीवों की भी हिंसा होती है। पानी की एक बूंद में ३६४५० जीव होते हैं और यदि हम एक बूंद भी जल प्रदूषित करते हैं तो कितने जीवों की हिंसा करते हैं। जैन धर्म के अनुसार नदी, तालाब, कूएं में प्रवेश करके स्नान नहीं करना चाहिये। शारीरिक मलों के उत्सर्जन से विजातीय तत्त्व जल में मिश्रित हो जाते हैं। जैन मुनि आज भी जल का अपव्यय नहीं करते। उन्हें तो श्रावकों द्वारा बर्तन और चावल आदि के धोवन का पानी कल्प्य है। वे सचित्त जल का प्रयोग नहीं करते। भगवान महावीर ने कहा है– जल की हिंसा का तात्पर्य जल–प्रदूषण से है। अत: जल का अपव्यय एवं संरक्षण दोनों आवश्यक है। दिन में एक बार खड़े होकर शुद्ध सात्विक अयाचित आहार ग्रहण करके मनुष्य की बहुगुणित–अभिलाषा को विराम देने का भाव जैन दिगम्बर मुनियों मे निहित है, क्योंकि मनुष्य ही अनंत इच्छाओं का समूह और अपनी इच्छापूर्ति हेतु प्राकृतिक संसाधनों का किसी भी सीमा तक दोहक है।

जैन–दर्शन के अनुसार वायु–प्रदूषण अग्निकाय जीवों की हिंसा का कारण है क्योंकि वातावरण में करोड़ों टन धुआं, रेत आदि छोड़े जा रहे हैं। महावीर ने कहा– अग्निकायिक जीवों को पीड़ित करना स्वयं अपने को ही उत्पीड़ित करना है। निश्चय ही अग्निकाय की इस विनाशलीला को जानने वाला संयमित जीवन जीने लगता है और जो असंयमित है वह जानते हुए भी इस विनाशलीला को आमंत्रण देता है।

वनस्पति प्रदूषण के सम्बन्ध में जैन दर्शन का मानना है कि वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा का परिणाम है– भूक्षरण तथा भूस्खलन, जिनसे कई देश कालकवलित होते जा रहे हैं। आक्सीजन नष्ट हो रहा है। जैन श्रावकों के दैनिक कार्यों में नाना प्रकार के वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा से विरत रहने को कहा गया है–वृक्षों को काटकर उनसे आजीविका करना (वणकम्म), लकड़ी काटकर कोयला बनाना (इंगालकम्म), आदि अनेक व्यवसायों से उन्हें विरत रहने को कहा गया है। जैन दर्शन मानता है कि जिसप्रकार मानव शरीर जन्म लेता है, विकसित होता है उसीप्रकार वनस्पति भी जन्म लेती है और उसका भी विकास होता है। मानव की भांति वनस्पति भी संगीत, ओम और सहानुभूति को स्वीकार करती है। जैसे शरीर सचित्त है वैसे ही वनस्पति भी सचित्त है। अत: जैन परम्परा का पर्यावरण विज्ञान यह मौलक सूत्र प्रस्तुत करता है कि विश्व में केवल मेरा ही अस्तित्व नहीं है अपितु औरों का भी अस्तित्व है।

सहअस्तित्व का सिद्धान्त

जैन धर्म समस्त जीवों के अस्तित्व एवं विकास में आस्था रखता है। जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त 'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'[२१] तथा 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'[२२] के आलोक में ही जैन दर्शन के अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद सिद्धान्त विश्व में मैत्री एवं सामंजस्य तथा सहअस्तित्व की भावना के उपजीव्य हैं।

अत: पर्यावरण संरक्षण के लिए मानव चेतना को जागृत करना अत्यन्त आवश्यक है। जन–जागरण के द्वारा, जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारते हुए सभी जीवों को अपने समान मानते हुये उनके प्रति मैत्रीभाव रखते हुए मानव सुखी जीवन जी सकता है।

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।।[२३]

सन्दर्भ :

१. अप्सु अमृतम्, अप्सु भेषजम् ।अथर्व.१.४.४
२. अथर्ववेद, १२.१.१२
३. यजुर्वेद– ३६.१७
४. अथर्व. ८.२.२५
५. अथर्व. १८.१.१७
६. ऋग्वेद–१०.१८६.३; १०.१८६.१
७. ईशावास्योपनिषद् १.१
८. यजुर्वेद ४.१, १६.१९, २०.३४
९. तैत्तिरीय आरण्यक १.२६.७
१०. यजुर्वेद ३६.१८
११. गीता ७.४
१२. आचारांग १.१.१
१३. वही १.२.३.६३
१४. तत्त्वार्थसूत्र–२/१२–१३
१५. समवायांगसूत्र-स्थान-१७
१६. तत्त्वार्थसूत्र–७/८

१७. दशवैकालिक ४.८

१८. तत्त्वार्थसूत्र ५.२१

१९. उत्तराध्ययनसूत्र-२९.९०

२०. आत्मसिद्धि- श्रीमद् राजचन्द्र १४२

२१. तत्त्वार्थसूत्र, ५.२९

२२. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा- टीका शुभचन्द्र, २५३

२३. अमितगति, सामायिक पाठ

****

कारक प्रकरण का तुलनात्मक अध्ययन : कच्चायन और पाणिनि व्याकरण के आलोक में

डॉ. श्वेता जैन

पालि व्याकरण के रूप में कच्चायन व्याकरण तथा संस्कृत व्याकरण के रूप में पाणिनि व्याकरण का प्रमुख स्थान है। पालि और संस्कृत के पल्लवन का काल और क्षेत्र समान होने से इसकी व्याकरणिक विषय-वस्तु भी प्राय: सदृश है। संज्ञा, संधि, कारक, समास, कृदन्त, तद्धित, तिङन्त, सुबन्त, उणादि प्रकरण दोनों व्याकरणों में विवेचित हैं। कच्चायन व्याकरण को विदेशी विद्वान् प्रो. ए.सी.बर्नेल ने ऐन्द्र परम्परा का व्याकरण सिद्ध किया है[१] और पाणिनि व्याकरण माहेश्वर परम्परा से सम्बद्ध है, यह लोकप्रसिद्ध है। कच्चायन व्याकरण प्रकरणानुसारी एवं स्वाभाविक है जबकि पाणिनि व्याकरण अपने विशिष्ट क्रम से सुगठित होने से क्लिष्ट प्रतीत होता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में कच्चायन व्याकरण के कारकप्रकरण की पाणिनि व्याकरण से तुल्यता निरूपित की गई है। कच्चायन व्याकरण चार कप्पों (कल्पों) तथा २३ परिच्छेदों में विभाजित है- १. संधि कप्प २. नाम कप्प ३. आख्यात कप्प ४. किब्बिधान कप्प। नाम कप्प का विभाजन कई कण्डों (काण्डों) में है। इसी के अन्तर्गत कारक, समास और तद्धित कप्प हैं, जो स्वतन्त्र कप्प की तरह रखे गए हैं। कच्चायन व्याकरण में सूत्रों के साथ वृत्ति भी दी गई है।[२] कारकप्रकरण में प्रत्येक सूत्र के साथ वृत्ति में उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में मात्र सूत्र ही दिए हैं। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में कारक विषयक ३३ सूत्र एवं कर्मप्रवचनीय संज्ञा के १६ सूत्र हैं। प्रथम सूत्र 'कारके' है, जिसके अधिकार में अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म तथा कर्ता के क्रम से कारकों का विवेचन हुआ है। इन कारकसूत्रों के पूरक के रूप में अष्टाध्यायी के द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में ७३ सूत्रों के अन्तर्गत विभक्तियों का विचार किया गया है। इसमें 'अनभिहिते' के अधिकार में क्रमश: द्वितीया, चतुर्थी, तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी विभक्तियों के प्रयोग स्थलों का निदर्शन किया गया है। इसके बाद 'अनभिहिते' अधिकार से भिन्न प्रातिपदिकार्थ मात्र में होने वाली प्रथमा विभक्ति का विधान करके पाणिनि ने 'शेष' में षष्ठी का निरूपण किया है। इसप्रकार १२२ सूत्रों में पाणिनि ने कारक को व्यवस्थित किया है जबकि कच्चायन ने मात्र ४५ सूत्रों में कारकप्रकरण को समेट लिया है।

कच्चायन और पाणिनि दोनों ने कारकसंज्ञक सूत्रों का विशिष्ट क्रम रखा है, दोनों का क्रम प्राय: समान है। पाणिनि ने अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म और कर्ता के क्रम में तो वहीं कच्चायन ने अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण, करण, कर्म और कर्ता के क्रम में सूत्रों को नियोजित किया है। माना जाता है कि 'विप्रतिषेध परिभाषा' के अनुरोध पर यह क्रम रखा गया है। इसमें परस्पर तुल्यबल से विरोध या युगपत् प्राप्ति होने पर परवर्ती कारक का प्राधान्य होता है। कम महत्त्वपूर्ण कारक पहले दिए गए हैं और अधिक महत्त्वपूर्ण बाद में, इस तरह कारकों का महत्त्व क्रमश: बढ़ता हुआ बताया गया है। विप्रतिषेध परिभाषा की कारकों में प्रवृत्ति होने की पृष्ठभूमि में यही युक्तिसंगत विकास-क्रम काम कर रहा है।

दोनों व्याकरणों के आधार पर विभक्ति सूत्रों के क्रम पर दृष्टिपात किया जाए तो काफी अन्तर दिखाई पड़ता है। कच्चायन ने विभक्तियों को प्रथमा, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, द्वितीया, षष्ठी और सप्तमी के क्रम से योजित किया है जबकि पाणिनि ने द्वितीया, चतुर्थी, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, प्रथमा, षष्ठी के क्रम से विभक्ति सूत्रों को संयोजित किया है।

कारक प्रकरण के सूत्रों का प्रत्येक कारक को लक्ष्य में रखकर तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है-

कर्तृ-कारक- कच्चायन व्याकरण में 'लिंगत्थे पठमा'(२८६) सूत्र द्वारा लिङ्गार्थ (प्रातिपदिकार्थ) के अभिधान मात्र में प्रथमा की जाती है ऐसा कहा गया है। पाणिनि 'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (२.३.४६) सूत्र द्वारा प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिंगमात्राधिक्य, परिमाणमात्राधिक्य, वचनमात्राधिक्य में भी प्रथमा विभक्ति का विधान करते हैं। पालि व्याकरण में 'यो करोति स कत्ता'(२८३) कहकर करने वाले की कर्तृ संज्ञा कही गई है। जबकि कर्ता के स्वरूप को बतलाने में पाणिनि सूत्र इससे व्यापक है- 'स्वतन्त्र: कर्त्ता' (१.४.५४) अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्ररूपेण (प्रमुखतया) विवक्षित होता है, उसकी कर्तृ संज्ञा होती है। प्रयोजक कर्ता के सम्बन्ध में दोनों वैयाकरणों की संज्ञाएँ एक सी हैं। प्रेरक कर्ता की हेतु एवं कर्ता संज्ञा, दोनों कही गई हैं।[३]

कर्म-कारक- अष्टाध्यायी में कर्मसंज्ञक ८ सूत्र तथा द्वितीया विभक्ति विधायक ११ सूत्र हैं, जबकि कच्चायन व्याकरण में कर्मसंज्ञक १ तथा द्वितीया विधायक सूत्र ४ हैं। 'यं करोति तं कम्मं' (२८२) सूत्र की वृत्ति में कहा गया है- 'यं वा करोति, यं वा पस्सति, यं वा सुणाति तं कारकं कम्मञ्ञं होति'। जिसको किया, देखा और सुना जाय, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। पाणिनि ने कर्मसंज्ञा का लक्षण दिया

है– 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'(१.४.४९) अर्थात् कर्ता को जो ईप्सिततम हो, उसकी कर्मसंज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त कर्मसंज्ञक सूत्र हैं– अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म, अभिनिविश्च, उपान्वध्याङ्वसः, तथायुक्तं चानीप्सितम्, अकथितं च, गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ तथा ह्रक्रोरन्यतरस्याम्। (१.४.४६–५३) 'कालद्धानमच्चन्त संयोगे' (३००) से 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (२.३.५) तथा 'कम्मप्पवचनीययुत्ते' (३०१) से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२.३.८) पूर्णतः सदृश हैं। 'गतिबुद्धिभुजपठहरकरसयादीनं कारिते वा' (३०२) सूत्र से 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' (१.४.५२) सूत्र तुलनीय है। वैयाकरण कच्चायन ने गति, बुद्धि, भुज्, पठ्, हर, कर, सय आदि धातुओं के प्रयोग में कारित (प्रेरक कर्ता) में विकल्प से द्वितीया विभक्ति स्वीकार की है। आचार्य पाणिनि गति, बुद्धि आदि के अर्थ वाली सभी धातुओं का समावेश अपने सूत्र में करते हुए णिजन्त कर्ता की बिना विकल्प के साथ कर्म संज्ञा करते हैं, तदनन्तर द्वितीया विभक्ति का विधान करते हैं।

करण–कारक

कच्चायन कृत पालि व्याकरण में करण संज्ञक १ सूत्र तथा तृतीया विधायक ७ सूत्र निरूपित हैं जबकि पाणिनिकृत संस्कृतव्याकरण में करण संज्ञक ३ सूत्र तथा तृतीया विधायक ६ सूत्र निरूपित हैं। क्रिया की सिद्धि में जो सबसे अधिक उपकारक होता है, उसकी 'साधकतमं करणम्' (१.४.४२) सूत्र से करण संज्ञा विहित है। कच्चायन व्याकरण में सूत्र एवं वृत्ति में करण संज्ञा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–'येन वा करियते तं करणं',(२८१) वृत्ति– येन वा करियति, येन वा पस्सति, येन वा सुणाति तं कारकं करणसञ्ञं होति' अर्थात् जिसके द्वारा किया, देखा या सुना जाय, उस कारक की करण संज्ञा होती है। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२.३.१९) सूत्र द्वारा सह के योग में अप्रधान में तृतीया होती है, जबकि कच्चायन व्याकरण में अप्रधान की चर्चा नहीं करते हुए सूत्र दिया गया है–'सहादियोगे च'(२८९) । 'करणे ततिया' (२८८), 'कत्तरि च' (२९०)– इन दो सूत्रों को एक में ही समाविष्ट कर आचार्य पाणिनि सूत्र देते हैं– 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२.३.१८)।

'हेत्वत्थे च' (२९१) सूत्र 'हेतौ' (२.३.२३) तथा 'येनङ्गविकारो' (२९३) सूत्र 'येनाङ्गविकारः' (२.३.२०) के सदृश है। पालिभाषा में 'तेन कालेन, तेन समयेन' आदि उद्धरणों में सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति दिखाई पड़ती है, जिसे सूत्र में निबद्ध कर कहा गया है– 'सत्तम्यत्थे च'(२९२)। 'विसेसने

च'(२९४) सूत्र द्वारा विशेषण के अर्थ में भी तृतीया विभक्ति का विधान किया गया है। यथा– सुवण्णेन अभिरूपो, तपसा उत्तमो। पाणिनि व्याकरण में 'इत्थंभूतलक्षणे' (२.३.२१) से लक्षणवाची शब्दों में तृतीया का विधान किया गया है।

सम्प्रदान–कारक

अष्टाध्यायी में सम्प्रदान संज्ञक १० सूत्र तथा चतुर्थी विभक्ति विधायक ५ सूत्र हैं तथा कच्चायन व्याकरण में सम्प्रदान संज्ञक २ सूत्र तथा चतुर्थी विभक्ति के २ सूत्र हैं। 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'(१.४.३२) की अपेक्षा कच्चायन के 'यस्स दातुकामो रोचते धारयते वा तं सम्पदानं'(२७८) सूत्र में अधिक स्पष्टता है। जिसे देने की इच्छा हो, जिसके प्रति रुचि हो अथवा जिसके लिए (कोई वस्तु) ऋण स्वरूप धारण की जाय, ऐसे कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। कच्चायन के इस सूत्र में पाणिनि के तीन सूत्रों (कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्, रुच्यार्थानां प्रीयमाणः, धारेरुत्तमर्णः) का समावेश है। 'सिलाघहनुठासपधारपिहकुधदुहिस्सासूयराधिक्ख–पच्चासुणअनुपतिगिणपुब्बकत्तारोचनत्थतुमत्थालमत्थमञ्ञानादरप्पाणिनि गत्यत्थकम्मनिसंसनत्थसम्मुतिभिय्य सत्तम्यत्थेसु च'(२७९) सूत्र में पाणिनि के आठ सूत्रों (श्लाघहनुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः, धारेरुत्तमर्णः, स्पृहेरीप्सितः, क्रुद्धद्रुहोरुपसृष्टयो कर्म, राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः, प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता, अनुप्रतिगृणश्च, आगे अन्य सूत्र भी सम्भव हैं।) का समावेश है।

अपादान–कारक

'ध्रुवमपायेऽपादानम्'(१.४.२४) सूत्र की अपेक्षा कच्चायन व्याकरण का 'यस्मादपेति भयमादत्ते वा तदपादानं'(२७३) सूत्र समझने में सरल अनुभूत होता है। पाणिनि सूत्र आकार में लघु और अर्थ में गम्भीर है जबकि कच्चायनसूत्र बृहत्काय होते हुए भी अर्थ में सरल एवं स्पष्ट है। जैसे– कच्चायन का अपादान संज्ञक एक सूत्र है- ''दूरन्तिकद्धकालनिम्माणत्वालोपदिसायोगविभत्तारप्पयोगसुद्धप्पमोचनहेतुविवित्तप्पमाण-पुब्बयोगबन्धन गुणवचनपञ्हकथनथोकाकत्तसु च''(२७७) अर्थात् दूरार्थ में, समीपार्थ में, अध्व–परिच्छेद में, काल–परिच्छेद में कर्म तथा अधिकरण में होने वाले 'त्वा' के लोप में, दिशायोग में, विभाग में, आरति शब्द के प्रयोग में, शुद्धार्थ में, प्रमोचनार्थ में, हेत्वर्थ में, अलग होने के अर्थ में, प्रमाण के अर्थ में, 'पुब्ब' शब्द के योग में, बन्धन में, गुणकथन में, प्रश्न में, कथन में तथा स्तोक (थोड़ा) एवं कर्तृभिन्न आदि अर्थों के प्रयोग में कारक अपादान संज्ञक होता है। इस सूत्र में अपादान संज्ञक होने की सभी स्थितियां एक साथ दी गई हैं।

कच्चायन व्याकरण में अपादानसंज्ञक ५ सूत्र और पंचमी विभक्ति विधायक २ सूत्र हैं, वहीं अष्टाध्यायी में ८-८ सूत्र हैं। 'रक्खणत्थानमिच्छितं' (२७५) और 'येन वादस्सनं' (२७६) सूत्र क्रमशः 'वारणार्थानामीप्सितः' (१.४.२७) और 'अन्तर्धौयेनादर्शनमिच्छति' (१.४.२८) के सदृश हैं।

अधिकरण-कारक

पाणिनि जहाँ 'आधारोऽधिकरणम्' (१.४.४५) सूत्र से आधार की अधिकरण संज्ञा करते हैं.वहीं कच्चायन 'योधारो तमोकासं' (२८०) सूत्र से आधार की ओकास अर्थात् अवकाश संज्ञा करते हैं। व्यापक, औपश्लेषिक और वैषयिक- ये तीन अधिकरण प्रसिद्ध हैं। कच्चायन आधार के चार भेद करते हुए कहते हैं- 'स्वाधारो चतुब्बिधो- व्यापिको, ओपसिलेसिको, वेसयिको, सामीपिको ति' (२८० की वृत्ति)। चतुर्थ सामीपिक आधार के उदाहरण वे इसप्रकार देते हैं- गंगायं घोसो तिट्ठति, वने हत्थिनो चरन्ति आदि। 'सामिस्सराधिपतिदायादसक्खिपतिभूपसूतकुसलेहि च'(३०५) पाणिनि के 'स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च' (२.३.३९), 'आयुक्तकुशलाभ्यां चाऽसेवायाम्' (२.३.४०) - इन दो सूत्रों से तुल्य है। 'निद्धारणे च' (३०६), 'यतश्च निर्धारणम्' (२.३.४१) से, 'अनादरे च' (३०७) 'षष्ठी चाऽनादरे' से, 'कालभावेसु च' (३१५) 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२.३.३७) से समतुल्य है। कच्चायन व्याकरण में अधिकरण संज्ञक सूत्र १ एवं सप्तमी विभक्ति विधायक सूत्र ५ हैं तथा पाणिनि व्याकरण में अधिकरण संज्ञक १ सूत्र है तथा सप्तमी विभक्ति विधायक१० सूत्र है।

षष्ठी विभक्ति

पाणिनि ने 'कारके' के अधिकार में 'षष्ठी शेषे' (२.३.५०) को परिगणित नहीं कर उसे विभक्ति मात्र ही स्वीकार किया है। जबकि कच्चायन व्याकरण में कारक के क्रम में इसे रखा गया है, स्वामी संज्ञा करने का सूत्र है- 'यस्स वा परिग्गहो तं सामि' (२८५) तथा इसकी वृत्ति में कहा है- 'यस्स वा परिग्गहो तं सामिसञ्ञं होति'। तदनन्तर 'सामिस्मिं छट्ठी' (३०३) सूत्र से 'षष्ठी' विभक्ति की गई है। पालि भाषा में द्वितीया, तृतीया, पंचमी और सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है। अष्टाध्यायी में २४ सूत्रों के अन्तर्गत षष्ठी विभक्ति को निरूपित किया गया है। स्मरणार्थक धातुओं में, प्रतियत्न के अर्थ में, रोग अर्थ वाली धातुओं में, हिंसार्थक में, क्रय-विक्रय के व्यवहार में, द्यूत के अर्थ में, कृत् प्रत्यय के साथ कर्ता-कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग बतलाया गया है। (२.३.५०-७३)

सम्बोधन

सम्बोधन में कच्चायन और पाणिनि ने प्रथमा विभक्ति का विधान किया है।[४] सामान्य रूप से संस्कृत वैयाकरण इसका कारकत्व स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि इसमें साक्षात् क्रियान्वयन नहीं होता है। कच्चायन व्याकरण में भी कारक के क्रम में इसे नहीं रखा गया है।

कच्चायन और पाणिनि दोनों ने प्राचीनकाल में प्रयुक्त कारकों के नामों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में नहीं किया। अट्ठकथाओं में कारकनामों का उल्लेख इसप्रकार हुआ है– पच्चत्तवचन, उपयोगवचन, करणवचन, सम्पदानवचन, निस्सकवचन, सामिवचन, भुम्मवचन, आमन्तणवचन। इन संज्ञाओं का प्रयोग कच्चायन और मोग्गलायन आदि ने तो नहीं किया, किन्तु बाद के प्रकरण ग्रन्थों तथा कुछ टीका ग्रन्थों में इनका प्रयोग प्रकारान्तर से हुआ है। पाणिनि सूत्रों पर लिखित वार्तिकों में 'प्रत्यात्मवचन' तथा 'उपयोगवचन'आदि का प्रयोग हुआ है, किन्तु पाणिनि ने इनका प्रयोग नहीं किया।[५]

प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन से पालि और संस्कृत भाषा की समीपता का बोध होता है। यही कारण है कि प्राय: विद्वानों का यह मत रहता है कि पालि व्याकरण की परम्परा को हृदयंगम करने के लिए संस्कृत व्याकरण परम्परा का ज्ञान परमावश्यक है।

सन्दर्भ :

१. द्रष्टव्य–On the Aindra School of Grammarian, Prof. A. C. Burnel- पृष्ठ ९–१२, उद्धृत : कच्चायन व्याकरण, भूमिका, पृष्ठ ६७

२. कच्चायन व्याकरण के सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरणों के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ प्राप्त होती हैं–

प्रथम विचारधारा–

कच्चानेन कतौ योगो, वुत्ति च संघनन्दिना।
पयोगो ब्रह्मदत्तेन न्यासो विमलबुद्धिना।।

(जेम्स एलविस द्वारा Introduction to Kaccāyana Grammar में कच्चायनभेद टीका से उद्धृत)

अर्थात् कच्चायन ने केवल सूत्र की रचना की थी, वृत्ति संघनन्दि द्वारा रची गई, प्रयोगों की रचना ब्रह्मदत्त द्वारा हुई और न्यास को विमलबुद्धि ने रचा।

द्वितीय विचारधारा–

आचरिया पन लक्खणवुत्तिउदाहरणसंखातं इमं
कच्चायनगन्थं कच्चायनत्थेरेन कतं ति वदन्ति।।

(सुभूति नाममाला, भूमिका, पृष्ठ १२ कच्चायनभेदटीका से उद्धृत)

कच्चायन को लक्षण, वृत्ति और उदाहरण का कर्ता कहा गया है।

–कच्चायन व्याकरण की भूमिका, पृष्ठ ५४–५५

३. (१) यो करोति स हेतु – कच्चायन व्याकरण, सूत्र २८४

(२) तत्प्रयोजको हेतुश्च – अष्टाध्यायी, १.४.५५

४. (१) आलपने च – कच्चायन व्याकरण, सूत्र २८७

(२) सम्बोधने च – अष्टाध्यायी, २.३.४७

५. कच्चायन व्याकरण, भूमिका, पृष्ठ ५१–५२

संदर्भ पुस्तकें–

१. कच्चायन व्याकरण (पालि व्याकरण)– लक्ष्मीनारायण तिवारी एवं बीरबल शर्मा, तारा बुक एजेन्सी, कमच्छा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८९

२. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ– पुष्पा दीक्षित, संस्कृत भारती, माता मन्दिर गली, झण्डेवाला, नई दिल्ली–११००५५, सन् २०१०

३. अष्टाध्यायी– पं. ईश्वरचन्द्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड, पो बॉक्स नं. २११३, दिल्ली–११०००७, सन् २००९

४. संस्कृत–व्याकरण में कारकतत्त्वानुशीलन (पाणिनितन्त्र के संदर्भ में)– डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो. बॉक्स न. ११२९, वाराणसी–२२१००१, प्रथम संस्करण, सन् १९९४

****

श्रमण परम्परा समन्वित भारतीय परम्परा एवं कला में नारी शिक्षा के आयाम

डॉ० शान्ति स्वरूप सिन्हा

शिक्षा किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा देश के विकास की वह कड़ी होती है, जिससे विकास समग्रता में होता है। सामान्यतया शिक्षा को विद्या, ज्ञान, श्रुति इत्यादि के अर्थों में देखा गया है। शिक्षा 'शिक्ष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है सीखना अथवा सिखाना। इसी प्रकार विद्या शब्द भी 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है ज्ञान, जानना अथवा पता लगाना। वस्तुत: मानवीय आवश्यकताओं ने शिक्षा का उत्तरोत्तर विकास किया, क्योंकि पहले आवश्यकताएँ सीमित थीं, तो कुछ लिखने-पढ़ने और गृहस्थी-संचालन की निपुणता प्राप्त करना काफी था, परन्तु जैसे-जैसे आवश्यकताएँ और समाज की परिपक्वता बढ़ी, वैसे ही शिक्षा की अनेक जटिलताओं के साथ शिक्षा के आयाम भी बढ़े। शिक्षा का मूल उद्देश्य है शारीरिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक शक्तियों का विकास, जिससे व्यक्ति सहजता, सच्चाई और परहित को ध्यान में रखकर जीवन निर्वाह कर सके, साथ ही कलापूर्ण और सौन्दर्यमय जीवन व्यतीत कर सके। समाज में आदरणीय और विश्वासपात्र बन सके तथा देशभक्ति भावना के साथ ही मानवता की सेवा करने में सक्षम हो सके।

किसी भी बालक/बालिका की प्रथम शिक्षा उसके घर से संस्कार और शिक्षा के रूप में प्राप्त होता है और माता प्रथम शिक्षिका होती है। अतएव पुरुषों की शिक्षा से स्त्रियों की शिक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे हमारी भावी सन्ततियों की माताएँ हैं। महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी ने नारियों के सर्वांगीण विकास के लिए 'नारी शिक्षा व्यवस्था' पर जोर देते हुए कहा था कि "नारी-शिक्षा में प्राचीन तथा नवीन सभ्यताओं के सभी गुणों का समन्वय हो और जो अपनी शिक्षा द्वारा भावी भारत के पुनर्निमाण में पुरुषों से सहयोग कर सके" अर्थात् नारियों को परम्परागत ज्ञान के साथ ही आधुनिक विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाए। वस्तुत: मालवीय जी ने औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के समान महत्त्व की ओर ध्यानाकर्षित किया है, जो भारतीय संस्कृति का मूलतत्त्व भी है। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही नारी-शिक्षा के इन्हीं दोनों पक्षों का समर्थन किया गया है। औपचारिक शिक्षा जहाँ ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करती है वहीं अनौपचारिक शिक्षा उसे सहजता, ग्राह्यता एवं सद्गुणों की शक्तियों से युक्त कर मानवीय संवेदनाओं से जोड़ती है। नारियों में स्वाभाविक रूप से ही पुरुषों की अपेक्षा इन शक्तियों की ग्राह्यता अधिक होती है,

जो परम्परा के साथ मिलकर निरन्तरता का रूप लेती है। अत: नारी-शिक्षा वास्तव में समाज को शिक्षित करना है।

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में भारतीय साहित्य एवं कला में नारी शिक्षा के प्रमाणों को आज के संदर्भ में रेखांकित करना ही प्रस्तुत शोध पत्र का अभीष्ट है।

भारतीय संस्कृति के विकास की दो मूल धारायें रही हैं- वैदिक-पौराणिक और श्रमण परम्परा। श्रमण परम्परा के अन्तर्गत बौद्ध एवं जैन धर्म आते हैं। वस्तुत: भारतीय संस्कृति वैदिक-पौराणिक, बौद्ध एवं जैन परम्परा का समन्वित परिणाम है। भारतीय साहित्य में नारी-शिक्षा के प्रभूत प्रमाण उपलब्ध हैं, जहाँ उन्हें पुरुषों के समान शिक्षित करने का उल्लेख हुआ है, साथ ही शिक्षिका के रूप में नारी का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। वैदिक-पौराणिक परम्परा के अन्तर्गत वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा अपने उच्चतम् स्तर पर थी। नारी बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। बृहदारण्यक-उपनिषद् (६/४/१७) में कन्याओं द्वारा कुछ मन्त्रों की रचना का उल्लेख मिलता है। इसी उपनिषद् में वैदिक काल का सर्वोत्तम ज्ञान 'ब्रह्मविद्या' की अधिकारिणी के रूप में गार्गी और मैत्रेयी का उल्लेख इस दृष्टि से और महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार अन्य वैदिक साहित्यों में रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता, निबावरी, घोषा, लोपामुद्रा आदि पंडिता स्त्रियों के नामोल्लेख मिलते हैं, जो दर्शन एवं तर्कशास्त्र में निपुण थीं। सूत्र काल में स्त्रियों द्वारा यज्ञ के सम्पादन[१] का उल्लेख नारी-शिक्षा और सम्मान की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। महाकाव्य काल के अन्तर्गत वाल्मिकी कृत रामायण (२/२०/१५) में कौशल्या के पंडिता होने का उल्लेख हुआ है। यहाँ यह उल्लिखित है कि राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय कौशल्या ने यज्ञ किया था।[२] इसी प्रकार महाभारत (३/३०५-२०) में माता कुन्ती के 'अथर्ववेद' में पारंगत होने का उल्लेख हुआ है।

नारी-शिक्षा के प्रमाण हमें पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' (५वीं शती ई.पू०) एवं पातंजलि कृत 'महाभाष्य' (दूसरी शती ई.पू.) में प्राप्त होता है जहाँ कई स्थानों पर पुरुषों के समान नारियों को शिक्षित करने का उल्लेख हुआ है। इसमें कहा गया है कि कन्याओं के आचार्यकरण (उपनयन) के पश्चात् ही वेदों का अध्ययन कराया जाय। पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करने वाली स्त्री 'पाणिनिया' तथा आपिशाली-व्याकरण का अध्ययन करने वाली छात्रा 'आपिशिला' कहलाती थी। पाणिनि कालीन भारत[३] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल में उपनयन संस्कार के द्वारा ही व्यक्ति विशेष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के सदस्य माने जाते थे। अष्टाध्यायी में आगे उल्लेख है कि आचार्य की स्त्री को 'आचार्यानी' परन्तु

स्वतन्त्र रूप से अध्यापन करने वाली स्त्री को 'आचार्या' कहा जाता था। इसमें पुरुष भी नि:संकोच शिक्षा प्राप्त करते थे, जिनका नाम अपनी 'आचार्या' के नाम से प्रभावित होता था, जैसे औदमेधा आचार्या के शिष्य को 'औदमेध' कहा गया है।[४] महाकाव्य एवं महाभाष्य काल के बाद ऐसा लगता है कि स्मृतियों के काल तक आते-आते औपचारिक शिक्षा के स्थान पर घरेलू एवं अनौपचारिक शिक्षा पर ज्यादा बल दिया जाने लगा, जिससे वे एक सफल गृहणी बन सकें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नारी-शिक्षा के साथ ही गणिकावृत्ति को एक सम्मानित व्यवसाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गणिकायें राज्य प्रशासन की अहम सूत्र होती थीं। अतएव इनके शिक्षण-प्रशिक्षण का सम्पूर्ण व्यय राज्य वहन करता था। गणिका, दासी तथा नर्तकियों को विभिन्न कलाओं का ज्ञान देने वाले आचार्यों की आजीविका का प्रबन्ध नगरों एवं ग्रामों से आने वाली आय द्वारा किया गया था। इन पदों पर अनुभवी गणिकाओं को लोगों द्वारा नियुक्त किया जाता था जो गणिकाओं के महत्त्व को दर्शाता है। गणिकाओं को सामान्यतया गायन, वादन, नृत्य, नाटक करना, नाटक लिखना, चित्रकारी, दूसरे के मन को पहचानना, सुगंधि का निर्माण, माला गूँथना, साज-सज्जा करना आदि कार्यों में प्रशिक्षित किया जाता था।[५]

वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में मुख्यत: अनौपचारिक शिक्षा को ही महत्त्व दिया है। इसमें[६] एक सफल गृहणी के लिए मुख्यत: उद्यान में वृक्षारोपण, प्राकृतिक चिकित्सीय औषधियों का ज्ञान, खाना बनाना, कताई-बुनाई, कर्मचारियों को योग्यतानुसार कार्य वितरण, पशुधन की सुरक्षा एवं संरक्षण, आय-व्यय पर नियन्त्रण एवं दृष्टि रखने वाले गुणों से युक्त होने की बात कही गयी है। इसके अतिरिक्त यहाँ विशिष्ट कारणों से स्त्रियों को[७] ६४ कलाओं में पारंगत होने के अन्तर्गत पुस्तक वाचन, औषधि निर्माण, कठिन श्लोक का उच्चारण (दुर्वाचक योग), नाटक एवं आख्यानों का ज्ञान (नाटकख्यानक दर्शनम्), विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान एवं शरीर विज्ञान और काम विकास (व्यायामिकरणम विज्ञानम् जाननाम्) के ज्ञान का होना अनिवार्य बतलाया गया है। आगे इसके महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि 'इन गुणों से युक्त होने पर स्त्रियाँ पति के बहिर्गमन अथवा आपदा काल अथवा विधवा होने पर अथवा दूसरे देश में निर्वहन के समय उनके लिए उपहार के समान हैं।''[८] इनमें से अधिकतर ज्ञान नारी-सम्मान, शिक्षा और आत्मनिर्भरता का सन्देश देते हैं जो सम्भवत: आज के आधुनिक वैज्ञानिक सोच वाले समाज की भी आवश्यकता है।

नारी-शिक्षा से सम्बन्धित सांकेतिक उल्लेख महाकवि कालिदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् (किशोर केलिसमेलम् अंक) में मिलता है जहाँ वन प्रान्तर में स्थित शकुन्तला की

प्रिय सखी प्रियंवदा दुष्यन्त को पत्र लिखने के निमित्त प्रयुक्त सामग्री और लिखने की शैली का निर्देश करते हुए कहती है कि 'हे सखी शुक के उदर समान कोमल इस नलनी-पत्र (कमल-पत्र) पर एक-एक पद अलग-अलग करके नाखून से लिखो'।[९] उपर्युक्त सन्दर्भ पाँचवी शती ई. के भारत में नारी के शिक्षित होने के साथ ही काव्य निर्माण में कुशल होने को प्रमाणित करता है।

दण्डी कृत 'दशकुमारचरित्र' में भी वात्स्यायन के अनुरूप स्त्री को अनौपचारिक शिक्षा के साथ ही व्याकरण, दर्शन और नक्षत्र विज्ञान से युक्त होना बतलाया गया है। अर्थशास्त्र के बाद दामोदर गुप्ता कृत कुट्टिनिमतम् (नवीं शती ई.) में गणिका वृत्ति का उल्लेख मिलता है। जिसमें भरत कृत नाट्यशास्त्र के कामशास्त्र के अध्ययन करने का उल्लेख हुआ है, साथ ही कला, संगीत, वृक्षायुर्वेद, चित्रकारी, सूचिकार्य, काष्ठकर्म, धातुकर्म, मृण्मय कर्म, भोजन-निर्माण, वाद्य वादन, गायन एवं नृत्य में पारंगत होने के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इस काल में संस्कृत काव्य निर्माण में कई स्त्री कवियों यथा- विकटनीतम्ब तथा प्रसिद्ध कवि राजशेखर (काव्य-मीमांसा के रचयिता) की पत्नी के नामों का मिलना[१०] इस बात की ओर संकेत करता है कि पूर्वमध्य-काल में भी नारी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। परन्तु ९वीं-१०वीं शती ई० के बाद (मध्य-काल) वैदिक-पौराणिक परम्परा में नारी शिक्षा के प्रति सामान्यतया कोई उत्साहजनक उल्लेख नहीं प्राप्त होते हैं। सम्भव है इसका कारण नारियों के औपचारिक शिक्षा के स्थान पर अनौपचारिक शिक्षा पर ज्यादा जोर देकर उनके एक सफल गृहणी के रूप में निर्माण ही प्रमुख उद्देश्य रह गया हो।

वस्तुत: शिक्षा को सार्वजनिक बनाने तथा शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं को समृद्ध करने में छठी शती ई०पू० की बौद्धिक क्रान्ति और निवृत्ति-मार्गी श्रमण परम्परा विशेषत: बौद्ध धर्म का योगदान महत्त्वपूर्ण है। बौद्धों ने वर्ण-जाति एवं वर्ग विहीन संघ के स्थापना एवं घर-घर जाकर जनमानस को जगाने का काम किया। बौद्ध संघ ने भिक्षु-भिक्षुणी के सामूहिक शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया, साथ ही बौद्ध उपासकों एवं जनसामान्य के लिए बौद्ध संघ एवं मठों में शिक्षा का प्रबन्ध किया। जिसके प्रमाण नालन्दा एवं विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों के रूप में देखे जा सकते हैं। बौद्ध शिक्षा के प्रचार-प्रसार का दूसरा कारण यह भी रहा है कि उन्होंने भाषा के रूप में वैदिक संस्कृत के स्थान- पर जनभाषा लौकिक संस्कृत (पालि) को महत्त्व देकर जनसामान्य की भाषा में शिक्षित करना प्रारंभ किया और कालान्तर में संस्कृत भाषा का भी प्रयोग किया। प्रारम्भिक बौद्ध पालि साहित्य में नारियों की स्थिति के उत्कर्ष का स्वरूप प्राप्त होता है। जहाँ बुद्ध द्वारा चुने गये चार गुरुओं में एक स्त्री का भी

वर्णन मिलता है। साथ ही एक रोचक तथ्य यह भी है कि तप कर रहे सिद्धार्थ गौतम को बोधगया के ग्राम्य बाला (सुजाता) ने एक कटोरी खीर खिलाई थी और उसके बाद ही गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त कर एक नये क्रान्तिकारी धार्मिक युग की शुरुआत की थी।[११] खुद्दक निकाय की 'थेरी गाथा', जिसमें भिक्षुणियों की कथा का उल्लेख हुआ है, के अनुसार ५० भिक्षुणियों में से ३२ अविवाहित और १८ विवाहित थीं जो ब्रह्मचर्य का जीवन जी रही थीं साथ ही धर्म और दर्शन का औपचारिक एवं व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर रही थीं।[१२] थेरी गाथा में आये उल्लेख से स्पष्ट है कि बुद्ध के काल में स्त्रियाँ अपनी विद्वता, नि:स्पृहता तथा अन्त: सन्तुष्टि से युक्त थीं। स्वयं बुद्ध स्त्रियों की निर्वाण-प्राप्ति की योग्यता से आश्वस्त थे और साथ ही साथ कुछ को तो वे पुरुषों से भी अधिक योग्य मानते थे।[१३]

बुद्ध प्रारम्भ में स्त्रियों को संघ-दीक्षा के पक्ष में नहीं थे। सम्भवत: यही कारण था कि उन्होंने कपिलवस्तु में गौतमी को भिक्षुणी बनाने से मना कर दिया था। पर आनन्द के दलील पर वैशाली में बुद्ध ने प्रजापति गौतमी सहित अन्य स्त्रियों को आठ शर्तों के साथ संघ में दीक्षा की अनुमति प्रदान की, इसके अतिरिक्त बुद्ध ने स्त्रियों के संघ में प्रवेश के कारण सद्धर्म के अल्पायु होने की घोषणा की।[१४] प्रारम्भ में भिक्षु-भिक्षुणियों में पर्याप्त सान्निध्य होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। परन्तु कालान्तर में लोकापवाद एवं सान्निध्यजनित दुष्कृत्यों के कारण संघ में स्त्री-पुरुष में भेद के दर्शन होते हैं। इसके बाद भी स्त्रियों के भिक्षुणी रूप में सुमना, खेमा जैसी राजपरिवार की स्त्रियों ने संघ में दीक्षा प्राप्त की, वहीं अड्ढ़काशी, अम्बपाली जैसी सामान्य एवं गणिकाएँ भी दीक्षा प्राप्त करने में सफल रहीं। परिणामस्वरूप कई भिक्षुणियों को श्रमणत्व के सर्वोत्म फल 'अर्हत्व' प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है, इनमें खेमा भिक्षुणी की अपनी विद्वता के कारण प्रसिद्धि सर्वविदित है।[१५] यह सभी उल्लेख बौद्ध धर्म में नारी सम्मान और शिक्षा की ओर संकेत करते हैं।

कालान्तर में बौद्ध धर्म में उपासिकाओं की भी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती गयी, परिणामस्वरूप वे 'बौद्ध चतुष्परिषद्' की एक इकाई के रूप में स्थापित हुई। यह महत्त्वपूर्ण है कि बुद्ध उपासिकाओं के कर्तव्य-पालन और धर्म में उनकी प्रभावी भूमिका से अत्यन्त प्रसन्न थे। खजुत्तरानन्द माता आदि उपासिकाओं को वे कुछ भिक्षु-भिक्षुणियों से भी श्रेष्ठ मानते थे। बोझा, सुतना, मनुजा, खेमा, रुचि, बिम्बा, तिस्सा, विशाखा, मिगारमाता, चुन्दी, सोना, नकुलमाता, उत्तरानन्दमाता, सामावती, सुप्पिया जैसी उपासिकाओं द्वारा सद्धर्म में किसी न किसी क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करने की घोषणा है और उनका अष्टशील उपासिकाओं के रूप में उल्लेख हुआ है।[१६]

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि बुद्ध के काल से लेकर लगभग प्रथम शती ई. तक बौद्ध धर्म में नारी शिक्षा को महत्त्व मिला। परन्तु कालान्तर में भिक्षुओं का संघ में बढ़ते वर्चस्व और धर्म के प्रसार और तन्त्र के प्रभाव ने कहीं न कहीं नारी-शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन पैदा किया। यही कारण है कि आज तमाम बौद्ध संस्थानों, मठों में भिक्षुणियों की संख्या भिक्षुओं की तुलना में न के बराबर है। साथ ही वर्तमान भारत में अधिकतर बौद्ध धर्म मानने वाली जातियों में शिक्षा का सर्वाधिक अभाव भी दिखलायी पड़ता है।

श्रमण परम्परा की दूसरी महत्त्वपूर्ण शाखा और भारतीय संस्कृति के विकास की अभिन्न कड़ी जैन धर्म का नारी-शिक्षा के प्रति उदार दृष्टिकोण साहित्य एवं कला में सामान्य रूप से द्रष्टव्य है। यही कारण है कि जैन साध्वियों के बहुविध उल्लेख हमें 'शिक्षिका' एवं 'उपदेशक' के रूप में प्राप्त होते हैं।[१७] बौद्ध परम्परा के अनुरूप जैनों ने भी शिक्षा को सार्वजनिक बनाने के लिए जनसामान्य को प्रशिक्षित करने का प्रयास किया। जैन परम्परा में जैन संघ (साधु, साध्वी, उपासक एवं उपासिका) द्वारा शास्त्राध्ययन धार्मिक क्रियाकलाप का एक प्रमुख अंग है और इसीलिए जैन परम्परा में लघुचित्र निर्माण एवं ग्रन्थ लेखन की एक परम्परा सी चल पड़ी। इसके लिए जैन समाज (व्यापारिक समाज) एवं राजकीय संरक्षण ने जैन-संघ को हमेशा भक्तिभाव से पर्याप्त धन मुहैय्या करवाया। इसी क्रम में शास्त्र रचना, उनकी प्रतियाँ तैयार करना एवं संरक्षित करना और शास्त्र-दान की धार्मिक क्रिया ने विशाल जैन साहित्य भंडारों को समृद्ध किया जो आज भी गुजरात, राजस्थान एवं अन्य स्थानों के जैन भंडारों के संग्रह के रूप में विद्यमान हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि लेखन की भाषा के रूप में जनभाषा (प्राकृत) का चुनाव किया। महावीर के काल से ही जैनों ने अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा का उपयोग करना शुरू कर दिया था और कालान्तर में प्राकृत के साथ संस्कृत एवं क्षेत्रीय भाषाओं यथा अप्रभंश, कन्नड़, तेलुगु, तमिल, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती एवं मराठी जैसी भाषाओं को साहित्य रचना का आधार बनाया जिससे स्वत: ही धार्मिक जनजागरण, ज्ञान और शिक्षा का विस्तार होता चला गया। जैनों का विश्वास है कि सम्पूर्ण ज्ञान की कुंजी 'आगम साहित्य' है, जबकि पौराणिक साहित्य तीर्थंकरों के पूर्व-जीवन के कथा साहित्य हैं।[१८]

जैन साहित्य में अनेकानेक उल्लेख नारी-शिक्षा के सन्दर्भ में प्राप्त होते हैं जो आज भी जैन धर्म एवं समाज में द्रष्टव्य हैं (विशेष रूप से श्वेताम्बर जैन परम्परा में)। प्रारम्भ से ही जैन परम्परा में धर्म के माध्यम से शिक्षा का प्रचार-प्रसार, ग्रन्थ-लेखन एवं शास्त्र-दान के रूप में हुआ है जिसे आज भी आचार्य, मुनि, भट्टारक, साध्वी,

उपासक एवं उपासिकाओं के समवेत प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। प्राचीन जैन साहित्य में नवीं शती ई. में जिनसेन द्वारा रचित 'आदिपुराण' जैनों का बहुमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में स्वयं प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ द्वारा नारी-शिक्षा पर जोर दिया गया है जो स्वत: ही जैन परम्परा में नारी-शिक्षा के महत्त्व को स्थापित करता है।

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक जीव को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी 'रत्नत्रय' धारण करने की आवश्यकता होती है। क्योंकि आत्मा का कलुष उसे 'अनन्त चतुष्टय' (ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य) से सम्पन्न होने का एहसास नहीं होने देता, जो दुख: का कारण है। यही शिक्षा की भावना आचार्य जिनसेन ने 'आदिपुराण' में भी व्यक्त की है। आदिपुराण के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने शिक्षा या विद्याओं का शुभारंभ स्वयं अपने सन्तति से किया। उन्होंने अपनी दोनों पुत्रियों- ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्या प्रदान करने के पूर्व कहा कि 'तुम दोनों अनुपम विनय और शीलगुण से सम्पन्न हो' और ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए कहा 'विद्यावती स्त्री ही सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करती है।'[१९] ऋषभदेव ने अपने पुत्रियों को विद्यार्जन हेतु आशीर्वाद देते हुए सर्वप्रथम अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवी को आदरपूर्वक स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि का उपदेश दिया और अनुक्रम से उन्हें संख्या का ज्ञान कराया। इसके बाद ही भरत, बाहुबलि आदि पुत्रों को अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययनं कराया।[२०] आचार्य जिनसेन ने विद्या के महत्त्व को स्थापित करते हुए ऋषभदेव के मुख से कहलवाया कि "विद्या ही मनुष्यों का यश और श्रेय करने वाली है। इतना ही नहीं अपितु अच्छी तरह से विद्यादेवी की आराधना सभी मनोरथ को पूर्ण करने वाली है। यही धर्म, अर्थ एवं कामरूपी फल सहित सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न करती है। यही मनुष्यों की बन्धु, मित्र और कल्याणकारी है।" आदिपुराण में गुरु के समीप जा क़र अनेक आर्यिकाओं का उल्लेख आचार विधि के अनुरूप दीक्षा ग्रहण करने का प्रसंग नाम्मोलेख के साथ वर्णित है। तीर्थंकर ऋषभनाथ के समवसरण में ३,०,००० आर्यिकाओं के उपस्थित होने का उल्लेख आदिपुराण में हुआ है। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं- अनन्तमति (४६.४७), अमितमति (४६.४७), कनकमाला (४६.४७-४८), गुणवती (४६.४५-४७), पद्मावती (७.३१), प्रभावती (७.३२), गणिनी (७.४२), सुप्रभा (७.४३), गुणवती एवं यशस्वती (४६.२१९), ब्राह्मी (२४.१७५), सुन्दरी (२४.१७७), सुलोचना (४७.२७८-२८८), सुदर्शना (७.४४)। इनमें से ब्राह्मी, सुन्दरी, अनन्तमति, अमितमति, गुणवती और पद्मावती गणिनी आर्यिकायें थीं। इसके साथ ही गणिनी आर्यिकाओं तथा उनके संघस्थ आर्यिकाओं का भी वर्णन हुआ है।[२१] इसी प्रकार जैन

परम्परा में नारी-शिक्षा का एक और उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। १४वीं शती ई० में गुजरात तपागच्छ विश्वविद्यालय में स्त्रियों को भी विविध उपाधियों से सम्मानित किये जाने की परम्परा थी। यथा- गणिनी (गणों की नेतृत्वकर्त्ता), प्रर्वतिनी (कार्यकर्ती) और महात्रा (महान स्त्री)।[२२] स्पष्ट है कि जैन परम्परा में प्रारंभ से ही शिक्षा अथवा ज्ञानार्जन के प्रति स्पष्ट दृष्टिकोण था। साथ ही नारी-शिक्षा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया, जिसे आज भी निरन्तरता में देखा जा सकता है।

साहित्यिक अध्ययन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय समाज नारी के औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा को समान रूप से महत्त्व देते हुए उनके समग्र विकास के लिए प्रतिबद्ध था। परन्तु भारतीय कला में औपचारिक शिक्षा के स्थान पर अनौपचारिक शिक्षा के अंकन को अधिक महत्त्व मिला जिसके अन्तर्गत गायन, वादन, नृत्य, आखेट, चित्र-निर्माण, लेखन एवं विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में संलग्न नारियों के विविध रूप से दर्शन होते हैं। साथ ही ज्ञान की देवी के रूप में सरस्वती के रूपायन के माध्यम से नारी के सम्मान और ज्ञान के समन्वित रूप को भारत की तीनों ही परम्पराओं (वैदिक-पौराणिक, बौद्ध एवं जैन) ने आदर सहित स्वीकारा है। भारतीय कला में इस प्रकार के उदाहरणों के अंकन को सैन्धव काल से लेकर वर्तमान काल के विविध शास्त्रीय एवं लोक कलाओं में स्पष्टत: देखा जा सकता है। भारतीय कला के ये उदाहरण हमें अभिलेखों, मूर्तियों एवं चित्रों के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर प्राप्त होते हैं।

भारतीय कला में नारी के अंकन के प्रमाण प्रागेतिहासिक काल से लेकर निरन्तरता में आधुनिक युग तक प्राप्त होते हैं परन्तु कालक्रम के विकास, बौद्धिक विकास एवं सामाजिक संरचना में आये बदलाव के विभिन्न स्वरूप नारी अंकन में काल विशेष का स्वरूप प्रकट करते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल ने ठीक ही कहा था, "भारतीय कला भारतवर्ष के विचार, धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृति का दर्पण है।"[२३] सैन्धव कालीन अंकन में सामान्तया नारी के मातृत्व रूप का दर्शन होता है। इस काल की प्रसिद्ध नृत्यरत कांस्य मूर्ति (मोहनजोदड़ो) और पाषाण में निर्मित महानर्तकी की मूर्ति (हड़प्पा) अपनी नग्नता, मुद्रा एवं माध्यम आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। दोनों मूर्तियाँ अथर्ववेद (२०/१३६/११) और शतपथ ब्राह्मण (१/२/१६ एवं ३/५/१/११) में आये वर्णन के अनुरूप 'प्रकृतिस्वरूपिणी शाश्वती स्त्री' या 'मातृदेवी' रूपं के साथ नारी सौन्दर्य का प्राथमिक प्रतिमान तय करती हैं[२४] अर्थात् सैन्धव काल में शिल्पियों का मूल मंतव्य नारी के मातृत्व स्वरूप को स्थापित करना ही था। मौर्य काल की आदमकद से बड़ी यक्षियों की मूर्तियाँ नारी सौन्दर्य के आदर्श को स्थापित

करती हैं साथ ही महाभारत एवं रामायण में आये सन्दर्भ के अनुरूप ऐश्वर्य, सौन्दर्य, ग्राम, रक्षा इत्यादि का समवेत दैवीय स्वरूप प्रस्तुत करती हैं।[२५] वस्तुत: मौर्य काल में नारी अंकन में देवत्व की भावना को संकेतों के रूप में ही प्रकट किया गया है क्योंकि मौर्य कला मूलत: प्रतीकात्मक कला रही है जिसका सुन्दरतम उदाहरण पटना के दिदारगंज से प्राप्त चामरधारिणी यक्षी (पटना संग्रहालय, पटना) में द्रष्टव्य है।

शुंग काल में नारी अंकन में मातृत्व व दैवीय स्वरूप का और विस्तार हुआ, जिसे सांची, भरहुत, नागार्जुनीकोण्डा, शहडोल और चन्द्रकेतुगढ़ से प्राप्त उदाहरणों में देख सकते हैं। अब तक ज्ञात प्राचीनतम् सरस्वती मूर्ति मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त (१३२ई. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे.२४) एवं जैन परम्परा से सम्बन्धित और अभिलेख युक्त है। ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के कर में पुस्तक का प्रदर्शन हुआ, परन्तु रूप विन्यास एवं मुद्रा की दृष्टि से सामान्य रूप में प्रस्तुत हुआ।[२६] साथ ही शुंग-कुषाण युग में मथुरा में आयागपटों का निर्माण प्रारंभ हुआ और कुषाण युग के बाद इनका निर्माण बन्द हो गया। लेखों में इन्हें आयागपट या पूजा शिलापट कहा गया है। अमोहिनी द्वारा स्थापित आर्यवती पट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे-१) एवं स्तूपाकृति वाला आयागपट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. २५५) इनमें सर्वाधिक प्राचीन हैं। आर्यवती पट पर छत्र से शोभित आर्यवती देवी की बामभुजा कटि पर और दक्षिण कर अभयमुद्रा में है। यहाँ आर्यवती की पहचान कल्पसूत्र (१६६) की आर्य यक्षिणी और भगवतीसूत्र (३.१.१३४) की अज्जा या आर्या देवी से भी की जा सकती है।[२७] परन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि लेख में उल्लिखित सन्दर्भ के अनुसार आर्यावती वस्तुत: विदेशी स्त्री थी जो जैन धर्म के प्रति आस्था और शिक्षा से प्रभावित थी। विदेशी स्त्री का जैन शिक्षा में अवदान की दृष्टि से यह आयागपट महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मथुरा तथा शहडोल से यक्षिणी, लक्ष्मी एवं अन्य नायिकाओं के अनेकश: अंकन प्राप्त होते हैं जिनमें नारी सौन्दर्य और उसके आध्यात्मिक स्वरूप का और अधिक विस्तार द्रष्टव्य है, जो उस काल में शिक्षा का ही एक रूप था।

गुप्त काल नारी अंकन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल रहा है जहाँ भारतीय संस्कृति और सौन्दर्य चेतना के अनुरूप नारी-रूप के मानक तय किये गये। वस्तुत: गुप्त काल नारी के दैवीय एवं भौतिक रूप के सन्तुलित समन्वय का काल रहा। जहाँ एक ओर गंगा-यमुना (अहिछत्रा एवं उदयगिरि) के माध्यम से नारी के रूप जल की अनिवार्यता और पूजा का भाव विकसित हुआ है तो दूसरी तरफ भक्ति और पवित्रता का भी सांकेतिक अंकन हुआ है[२८] जो आज के पर्यावरणीय चिन्ता के प्रति

सजगता का उपयुक्त उदाहरण है। दूसरी तरफ अजन्ता की मूर्तियों और चित्रों में नारी के विविधरूप (नर्तकी, वाद्य-वादन और विभिन्न प्रकार के भौतिक क्रियाकलापों में संलग्न) वस्तुत: उस काल में नारी के औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के महत्त्व को ही दर्शाते हैं।

पूर्व मध्यकाल में नारी शिक्षा के विविध आयाम के दर्शन होते हैं, यहाँ आचार्य के सान्निध्य में स्त्रियों को शास्त्राध्ययन एवं तत्त्वचर्चा करते अंकित (देवगढ़, ललितपुर, उ०प्र०, ७वीं से १६वीं शती ई०) किया गया है। साथ ही साथ सरस्वती (देवगढ़),[२९] गंगा-यमुना-सरस्वती एवं अभिषेक लक्ष्मी (एलोरा, नवीं शती ई०), महिषमर्दिनी, पार्वती-परिणय (एलोरा, कन्नौज, एटा) एवं अर्द्धनारीश्वर रूप के माध्यम से दैवीय रूप के साथ-ही साथ अनौपचारिक शिक्षा की अनिवार्यता को महत्त्व दिया गया है, साथ ही नारी के सम्मान, शक्ति और समाज के संचालन में उनकी अहम भूमिका की ओर संकेत किया गया है। सरस्वती के रूप में ज्ञान और संगीत, अभिषेक लक्ष्मी के रूप में धन एवं ऐश्वर्य, महिषमर्दिनी के रूप में नारी शक्ति, पार्वती-परिणय और अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रकृति और पुरुष की एकात्मकता से ही सृष्टि के विकास का सम्भव होना रेखांकित हुआ है। अर्थात् पूर्व मध्यकालीन कला में नारी की अनिवार्यता को स्थापित करना ही उस काल की कला का मूल ध्येय था।

मध्य काल तक आते-आते भारतीय समाज और उसके वृत्तिगत परिवर्तन का सीधा असर कालगत उपादानों पर दिखलायी पड़ता है। इस काल में क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ भारत के विभिन्न पुरास्थलों (खजुराहो, भुवनेश्वर, हेलविड, कुंभारिया, देलवाड़ा इत्यादि) स्थानों पर नारी विषयक अंकन में विविधता और विस्तार दिखलायी पड़ता है जिसमें नारी की सामाजिक स्थिति को विशिष्टताओं के साथ रेखांकित किया गया है, जिसमें उनके धर्म, अर्थ, काम के विभिन्न स्वरूपों को पूरी प्रतिष्ठा के साथ स्थापित किया गया। उदाहरण के लिए खजुराहो (छतरपुर, म.प्र. ९वीं से १२वीं शती ई.) के मन्दिरों पर भारतीय कला की सर्वाधिक और सबसे सुन्दर अप्सराओं को नृत्यांगना, नूपुर बँधवाती, पुत्रबल्लभा, पत्र-लेखना, वीणा-वादन करते, महावर रचाते, चित्र-लेखना, विवस्त्रजधना इत्यादि विविध रूपों में दिखाया गया है[३०] जो एक ओर अनौपचारिक-शिक्षा का स्वरूप दर्शाती हैं तो दूसरी तरफ अप्सरा मूर्तियों में उनकी सहायक आकृतियों में तुलना करने पर उनके अर्धदैवीय स्वरूप और समाज में विशेष प्रतिष्ठा का संकेत देती हैं। वर्तमान में भी लेखन, चित्र-निर्माण, नृत्य, संगीत, विशिष्ट शिक्षा के प्रतीक हैं। खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर की

सरस्वती मूर्ति (उत्तरी अधिष्ठान) अतिविशिष्ट प्रकार की है। सरस्वती के करों में पुस्तक, वरद, पद्म, अक्षरमाला के साथ ही वीणा वादन[३१] करने का अंकन, ज्ञान के साथ ही संगीत की देवी के रूप में प्रस्तुत हुआ है वस्तुत: यह अंकन ज्ञान एवं संगीत की देवी के रूप में नारी शिक्षा के महत्त्व का ही परिचायक है।

मध्यकालीन दक्षिण भारतीय कला-केन्द्रों में हेलविड, बेलूर, तंजौर, गंगैकोण्डचोलपुरम, श्रवणबेलगोल पर खजुराहो के ही भाँति नारी के विविध रूपों का अंकन हुआ है और यहाँ भी अनौपचारिक शिक्षा के विविध आयामों के दर्शन होते हैं। हेलविड स्थित होयमलेश्वर मन्दिर (१२वीं शती ई., कर्नाटक) से नृत्यांगना, वाद्य-वादन करती अप्सरायें, विभिन्न लौकिक क्रियाकलापों में संलग्न आकृतियों के साथ ही आखेटिका और नृत्यरत सरस्वती का अंकन हुआ है जो नारी शिक्षा की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। आखेटिका के अंकन में नारी के आखेट में दक्ष होने तथा नृत्यरत सरस्वती को चतुर्भुज रूप में दर्शाया गया है। सरस्वती नृत्य-मुद्रा (पताका एवं राजहस्त मुद्रा) में अक्षमाला एवं पुस्तक से युक्त है और वाहन के रूप में मयूर का अंकन हुआ है। जो वस्तुत: ज्ञान, संगीत एवं नृत्य का समन्वित प्रस्तुतिकरण है। जिननाथ मंदिर (श्रवणबेलगोल, कर्नाटक, १२वीं शती ई०) की पश्चिमी भित्ति पर कायोत्सर्ग में खड़े पार्श्वनाथ के दोनों ओर समान आकार वाली नृत्यांगना, वेणूवादन एवं मृदंगवादन करती नारी आकृतियों के साथ ही चामरधारिणी एवं विवस्त्रजधना की आकृतियाँ भी नारी के सम्मान और अनौपचारिक शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक भारत में नारी शिक्षा और नारियों के विविध रूपों को कलाकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है जिनमें राजा रवि वर्मा (१८४८-१९०६), अवनीन्द्रनाथ टैगोर (१८७१-१९५१), यामिनी राय (१८८७-१९७२), देवी प्रसाद राय चौधुरी (१८९९-१९७५) और प्रदोष दास गुप्ता (१९१२-१९९०) के नाम प्रमुख हैं। रवि वर्मा में चित्रों में पौराणिक एवं कालिदास की नायिकाओं के माध्यम से वात्सल्य, प्रेम, शिक्षा एवं संगीत और रानी पद्मावती का नारी अस्मिता की रक्षा के लिए 'जौहर' करने का दृश्यांकन इस संदर्भ में पुष्टता प्रदान करता है जो उस काल (ब्रिटिश साम्राज्य) के अन्तर्गत भारतीय चेतना को पुनर्स्थापित करने के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण था। इसी प्रकार अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने 'भारत-माता' के अंकन के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण का संदेश दिया है। इस चित्र में गेरुआ वस्त्र धारण किये साध्वी चतुर्भुजा स्त्री के रूप में भारत माता अक्षमाला, वस्त्र, पुस्तक एवं धान्य मंजरी को करो में धारण किये प्रदर्शित हैं जो शिक्षा की अनिवार्यता के साथ ही निरन्तरता एवं स्वयं पर विश्वास का प्रतीक है। इसी प्रकार देवी प्रसाद राय चौधुरी

ने एक ओर जहाँ तत्कालीन बंगाल के दुर्भिक्ष का मार्मिक दृश्य प्रस्तुत किया है तो वहीं दूसरी ओर शहीद स्मारक में सरोजनी नायडू के माध्यम से नारी के राष्ट्रीय चेतना को भी उद्घाटित किया है।

उपरोक्त अध्ययनों से स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य एवं कला में काल और क्षेत्र के सन्दर्भ में विशिष्टताओं, व्यावहारिक जागरूकता और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर हमेशा नारी की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है जो वर्तमान की भी आवश्यकता है। भारतीय कला का बाह्य रूप भले ही किसी परम्परा विशेष से अनुप्राणित होता हुआ प्रतीत होता हो, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह भारतीय संस्कृति की संवाहक ही है। अतएव उन्हें समग्रता में देखना समीचीन होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिन विषयों को प्राचीन काल में अनौपचारिक शिक्षा के रूप में देखा गया, वर्तमान में वे ही विषय (गायन, वाद, नृत्य, चित्र-निर्माण, लेखन इत्यादि) शास्त्रीय शिक्षा की मुख्य धाराओं में सम्मिलित हैं और उन्हें वर्तमान के सभी समाज प्राचीन काल की तरह सम्मान प्रदान कर रहे हैं।

सन्दर्भ :

१. स्त्रि यश्चोपयजेरम्ना चरित्वात् । पारस्कर गृह्य सूत्र, २/२०

२. सा क्षोभ वसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रविस्कृत मंगला।

३. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, १९६५

४. आर०सी० शर्मा, ''एजुकेशन सिस्टम इन अष्टाध्यायी'', सात्वतार्चन (वासुदेव शरण अग्रवाल जन्मशती स्मृति ग्रन्थ), (सम्पा.) एम.एन.पी. तिवारी एवं अन्य, वाराणसी, २००७, पृ० ४३-५४, आभा मिश्रा, ''प्राचीन भारत में शिक्षा'', वही, पृ० १९६-१९९

५. ज्योति मिश्रा, ''कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिविम्बित स्त्रियों की सामाजिक स्थिति''; प्रज्ञा, वर्ष, ५७, अंक १, वाराणसी, २०११-१२, पृ० १२२-१२५

६. कामसूत्र, १/३/१५

७. वही, १/३/१६

८. वही, १/३/२३

९. नन्वस्मिन् शुकोदर सुकुमारे नलीनपत्रे पदच्छेभत्तया नखैरालिख्यताम ।- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ३.१९

१० ज्योत्सना के. कामत, ''एजुकेशन ऑफ वुमेन इन एशियण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया'', पर्सपेक्टिव इन एजुकेशन (सदाशिव वोड्यार फेलिसिटेशन वाल्यूम), धारवाड, १९८०

११. सीताराम दूबे, बौद्ध धर्म, विविध पक्ष, दिल्ली, २००७, पृ० ८१-१३७

१२. ज्योत्सना के. कामत, पूर्वोक्त

१३. संयुक्त निकाय- ३.१६ (मल्लिका सुत्त), सीताराम दूबे, पूर्वोक्त

१४. विनय, चुल्लवग्ग, १०.१

१५. संयुक्त निकाय (खेमासुत्त), ४४.१

१६. अंगुत्तर निकाय, उपोसथ वर्ग; सीताराम दूबे, पूर्वोक्त

१७. जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन एन्शियण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, मुंबई, १९४७, पृ० १५४-१५५

१८. ज्योतिप्रसाद जैन, रिलीजन एण्ड कल्चर आफ जैन्स, नई दिल्ली, १९९९, पृ० १७७-१८०

१९. आदिपुराण, १६.१८

२०. वही, १६.९९-१०२

२१. आराधना जैन, "आदिपुराण में उल्लिखित आचार्य, मुनि आर्यिका एवं उनकी आचारविधि', जिनसेन कृत आदिपुराण परिशीलन, (सम्पा०) फूलचन्द जैन, जयपुर, २००१, पृ० १४३-१५४

२२. ज्योत्सना के कामत, पूर्वोक्त

२३. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी २००७ (पु०मु०), पृ० १

२४. वहीं, पृ० २६

२५. वहीं, पृ० १२२-३०

२६. एम.एन.पी. तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान,वाराणसी, १९८१, पृ० ४७

२७. वही

२८. एम.एन.पी. तिवारी एवं एस.एस. सिन्हा, जैन आर्ट एण्ड एस्थेटिक्स, नई दिल्ली, २०११, पृ० ३६

२९. एम.एन.पी. तिवारी एवं एस.एस. सिन्हा, जैन कला तीर्थ : देवगढ़, ललितपुर, २०१२ (तृतीय संस्करण), पृ० ११२-११४

३०. एम.एन.पी. तिवारी, खजुराहो का जैन पुरातत्व, खजुराहो १९८७, पृ. ६-९

३१. वही, पृ० ७२-७४

३२. एम.एन.पी. तिवारी एवं एस.एस. सिन्हा, जैन आर्ट एण्ड एस्थेटिक्स, पूर्वोक्त, पृ० २०६-०७

****

मुनि परम्परा का विकास ऋग्वेद से लेकर महावीर तक

निर्मला गुप्ता एवं श्रेयांश त्रिपाठी

प्राचीन वैदिक वाङ्मय, जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य, महाकाव्य और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष के धार्मिक परिदृश्य पर आर्य और आर्येत्तर ये दो समानान्तर विचारधारायें एक ही समय में विकसित हो रही थीं। आर्य विचारधारा का प्रतिनिधित्व वेद, उपनिषद्, वेदांग इत्यादि के द्वारा किया जा रहा था और इस विचारधारा का विकास वैदिक धर्म, सनातन धर्म या परम्परागत हिन्दू धर्म के रूप में हुआ; जबकि आर्येतर विचारधारा का प्रतिनिधित्व श्रमणों, मुनियों और व्रात्यों की परम्परा ने किया। बौद्ध और जैन साहित्य श्रमण विचारधारा के प्रमुख प्रतिनिधि हैं।

प्राचीनता के दृष्टिकोण से जैन धर्म को बौद्ध धर्म से प्राचीन माना जाता है। अधिकांश विद्वान श्रमण परम्परा के उद्भव को ऋग्वैदिक मुनियों और यतियों से सम्बद्ध करते हैं। यह सच है कि 'मुनि' शब्द दोनों-वैदिक और श्रमण परम्पराओं में समादृत है, किन्तु उपलब्ध साक्ष्य से मुनि तत्त्व उस अतीन्द्रिय ज्ञान की स्थिति का परिचायक है जो विभिन्न सम्प्रदायों में आध्यात्मिक महापुरुषों की होती है।

'मुनि' शब्द के दो अर्थ हैं- मौन-व्रत-धारी 'वाचंयमो मुनि:'[१] और 'अतीन्द्रियार्थदर्शी'।[२] मौनी के अर्थ में 'मुनि' शब्द की व्युत्पत्ति तो संदिग्ध प्रतीत होती है। यह शब्द संस्कृत के मूक और यूनानी के 'मुन्दोस्' का समवेत स्वरूप है, किन्तु इस शब्द का मौन-व्रत धारी के अर्थ में 'अतीन्द्रियार्थदर्शी' के रूप में वैयाकरणिक दृष्टिकोण से कोई सम्बन्ध नहीं है।[३]

दूसरे शब्द के रूप में 'मुनि' शब्द का अर्थ ज्ञानी है। सायण इसे अतीन्द्रियार्थदर्शी, बृहदारण्यक उपनिषद्[४] 'विदित्वा मुनिर्भवति', पालि साहित्य 'धम्म-दस्सिस मुनिनो'[५] और मागधी वाङ्मय 'नावेण मुणी होई तवेण होइ तावसो' रूप में[६] पारिभाषित करते हैं। संस्कृत वैयाकरण मन् = ज्ञाने से इसकी व्युत्पत्ति करते हैं- 'मननात् मुनि:।' मन् धातु भारतेरानी आध्यात्मिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण है इनसे 'मनीषा', 'मति' 'मन् - धा, 'मज्दा' 'मन्धाता' इत्यादि विशिष्ट शब्द व्युत्पन्न किए गये परन्तु मन् धातु से मुनि शब्द उत्पन्न नहीं हो पाता। अत: वैयाकरणिक दृष्टिकोण से उणादि वर्ग में इसे मिलाकर 'मनेरुच्च सूत्र' बनाया गया और यहाँ विधान यह किया गया कि मन में 'उ' स्वर का आगम होकर 'मुनि' शब्द बना है। मुख्यत: यह वैयाकरणों का एक वाग्जाल मात्र है; क्योंकि मुनि शब्द 'मृण् प्रतिज्ञाने' अथवा पालि 'मुन् आने' से उत्पन्न होता

है। धम्मपद में 'मुनि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है- 'यो मुनाति उभो लोके मुनि तेन पवुच्चति'। 'मुण्' धातु के विषय में यह अवलोकनीय है कि वैदिक साहित्य में 'मुण्' धातु प्राप्त होना दुर्लभ है और लौकिक संस्कृत साहित्य में यह प्राप्त नहीं होती है। तैत्तिरीय आरण्यक[८] में 'नृ मुणन्तु' की भट्ट भास्कर इस प्रकार व्याख्या करते हैं- 'नर: प्रतिजानन्तु'। प्राकृत वैयाकरण संस्कृत की 'मुण्' धातु को न जानने के कारण संस्कृत 'जानाति' के लिए प्राकृत में मुण का आदेश किया है 'जानातेर्जाण मुण इत्यादेशौ भवत:।'[९] प्राकृत और पालि में इस धातु का बहुतायत मात्रा में प्रयोग किया गया है। पिशेल[१०] ने मुणई, मुणादि, मुणेयव्व, मुणेदव्व आदि को विभिन्न प्राकृत ग्रन्थों में सन्दर्भित किया है। इस धातु का प्रयोग अपभ्रंश रूप में भी किया गया है- "सरह-सेस-हर मुणहु सत्ताइस खंधाण" अर्थात् हे शरभशेषधर कवि! इसके सत्ताइस भेद जानो। छान्दस् और लौकिक संस्कृत में इसके दुरूह प्रयोग के साथ ही प्राकृत, पालि, अपभ्रंश में इसके विपुल सन्दर्भों की प्राप्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि 'मुण्' धातु और उससे उत्पन्न 'मुनि' शब्द वैदिक साहित्य में उस प्राक् ऋग्वेदीय भारतीय आर्य शब्द-भण्डार से उधार लिया गया है जिसकी धरोहर प्राकृत भाषाओं में सुरक्षित है। धार्मिक साहित्य के प्रणयन के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

इस तथ्य का समर्थन इससे भी होता है कि वेद और ब्राह्मण साहित्य में केशी सूक्त[१२] (ऋग्वेद) को छोड़कर 'मुनि' शब्द का प्रयोग केवल १२ बार किया गया है, जबकि पालि और प्राकृत में मुनि के अगणित उल्लेख हैं। इस प्रकार मैकडोनेल और कीथ[१३] के इस मत के विरुद्ध कि वैदिक साहित्य में 'मुनि' शब्द के यदा-कदा प्रयोगों के कारण वैदिक काल में मुनियों के अस्तित्व की कमी अनुमानित नहीं करनी चाहिए, भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्य वैदिक समाज में मुनि को आगन्तुक तत्त्व मानने का संकेत देते हैं। मुनि-तत्त्व की प्रारम्भिक स्थिति को ज्ञात करने के लिए केशी-सूक्त असाधारण साक्ष्य उपलब्ध कराता है। इसके साथ ही साथ यह एक ऐसा तटबन्ध है जिसका मुनि के अन्य प्रसंगों से साक्षात् सन्दर्भ नहीं है। इस सूक्त में मुनियों की अनेक लाक्षणिक विशेषताओं की ओर संकेत दिया गया है, जिनकी अनेकश: व्याख्याएँ भी की गयी हैं और इसलिए यह विशेष रूप से विवाद का विषय बन गया है। अतएव इस गम्भीर प्रश्न की गहन गवेषणा करना वांछनीय प्रतीत होता है।

मुनियों के सन्दर्भ में कहा गया है कि वे 'मुनयो वातरशना पिशंगावसते मला' अर्थात् पिशंग मल धारण करते हैं। पिशंग मल की अनेक व्याख्यायें की गई हैं। इसी सूक्त में उद्धृत सप्तम मंत्र में रुद्र के प्रसंग के कारण मल का अर्थ भस्म किया गया है क्योंकि पश्चाद्वर्ती पाशुपत तपस्वी भस्म-शयन और भस्म-लेपन करते थे। किन्तु 'वस्'

धातु का प्रयोग प्राय: वस्त्र पहनने के अर्थ में ऋग्वेद में मिलता है; उदाहरण के लिए अवशिष्टावास: सिन्धुराज ने कपड़े पहने 'युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे'[१५] अर्थात् हे मित्र वरुण! आप पुष्प वस्त्रों को पहनते हो। यहां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'भद्रा वस्त्राणि अर्जुन वसाना'[१६] अर्थात् भद्र एवं साफ वस्त्रों को पहने हुए। यहाँ अर्जुन वस्त्राणि में मल (वस्त्र) का विलोम है। 'स तु वस्त्रण्यधा पेशनानि वसानो'[१७] अग्नि सोने की जरी के वस्त्र पहने हुए, इसमें पेशन वस्त्र और पिशंग मल में इतना साम्य है कि पेशन और पिशंग एक ही धातु 'पिश्' के ही दो रूप हैं।

'मल' शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से वैदिक साहित्य में मैल के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, यथा-आप: मलमिव प्राणैक्षीत।[१८] जैसे जल मल को भली प्रकार से धो देता है 'इदमाप: प्रवहतावद्यं मलं चयत्'[१९] अर्थात् जल इस निन्दनीय मल को बहा ले जाओ। इस मैले अर्थ का विस्तार हुआ और 'मल' शब्द का अर्थ पाप भी हो गया। किन्तु भारोपीय में संस्कृत माला का अर्थ रंगना और मल का प्राथमिक अर्थ है रंगीन। यूनानी में मेलस् का अर्थ काला है और मिल्तोस रक्त वर्ण के लिए प्रयुक्त है।

प्रस्तुत प्रसंग में स्मरणीय तथ्य यह है कि प्रारम्भ में मल का अर्थ रंगीन ही नहीं रंगीन वस्त्र होता था। इसका कारण है कि 'म्ला' धातु सर्वप्रथम चमड़े के रंगने के अर्थ में प्रयुक्त हुई। चमड़े रंगने वाले को वैदिक साहित्य में चर्मम्न कहा गया जहाँ 'म्ल' का ही रूप 'म्न' है। इस शब्द का समर्थन 'म्लातानि चर्माणि'[२०] रंगे हुए अजिन वस्त्र के उल्लेख से प्राप्त होता है। बाद में जब ऊन, कपास, शण आदि के कपड़े बनने लगे तो वस्त्र-मात्र को मल कहने लगे। प्रो० श्राडर[२१] ने लिथुआनी मालोस (भद्र-वस्त्र) और यूनानी मेल्लोस (ऊनी वस्त्र) से प्रयुक्त मल को समीकृत किया है। प्रस्तुत प्रसंग में मल रंगीन वस्त्र है। बिना रंगे हुए वस्त्र को अर्जुन वस्त्र[२२] सफेद कपड़े को अनभिम्लात[२३] कहते थे।

इस सन्दर्भ में 'वसते मला:' की तुलना तैत्तिरीय संहिता[२४] के 'मलवद्वाससं' और शतपथ ब्राह्मण[२५] के 'मलद्वाससं' से की जा सकती है।

शतपथ ब्राह्मण में कथन है - अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्र्येत मयि तेज इन्द्रिय यशो द्रविणं सुकृतं श्रीर्हवैष स्त्रेणां यन्मलोद्वासास्त-स्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिमन्त्र्येत। अर्थात् अब जल में अपने को देखें और यह मंत्र पढ़ें- 'मुझमें तेज, इन्द्रिय, यश, सम्पत्ति और पुण्य हो'। जिन स्त्रियों का मल उदास है वही उनकी श्री है। अत: मलोद्वास से युक्त यशस्विनी के पास जाकर उसको आमंत्रित करें।

यहां मलोद्वास से तात्पर्य है (रजस्राव से) रंजित वस्त्र। इसे स्त्री की श्री कहा गया है। इसे अवसर विशेष पर विशेष शक्तिशाली माना जाता था।

आगे चलकर पुन: इसका प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है। 'पिशन्न द्रापिं'[२६] 'पिशन्न भ्रष्टिं'[२७] 'पिशन्नाश्वा' 'अरुणाश्वा' में पिशंग का अर्थ रक्ताभ अथवा ताम्र और इसका तात्पर्य गैरिक वस्त्र से होगा। ऋग्वैदिक परम्परा में पिशंग वस्त्रों का उल्लेख अप्राप्य है। परन्तु यत्र-तत्र इस तथ्य का उल्लेख मिलता है कि पिशंग वस्त्रों का निर्माण होता था। अथर्ववेद में खृगल को पिशंग सूत्र से बांधने का उल्लेख प्राप्त होता है- ''पिशन्ने सूत्रे तद् खृगलं बधनन्ति वेधासा[२९]'' सारांश रूप में 'पिशंन्ना वसते मला:' का अर्थ है कि वे मुनि गैरिक वस्त्र धारण करते थे। ऋग्वेद (१०.१३६) में स्पष्टत: जैन मुनियों का ही उल्लखे है जिसमें कहा गया है कि वे वैदिक ऋषियों से भिन्न अस्वच्छ वस्त्र पहनते थे।

वातरशन की अनेक व्याख्यायें की गई हैं। मैकडोनेल और कीथ इसका अर्थ वातमेखला से युक्त अर्थात् नग्न करते हैं। पश्चात्वर्ती टीकाकार यथा श्रीधरस्वामी[३०] की भागवत में यही व्याख्या है - ''वातरशना: दिग्वासस:''। श्रीधर और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'वातो वायुस्स एव रशना कटिसूत्र येषां ते' परन्तु यह अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता। वैदिक साहित्य के किसी स्थल पर भी रशना का अर्थ कटिबन्ध नहीं प्रयुक्त किया गया है, उसके लिए मेखला शब्द प्रयुक्त है।

'रशि नियमने बंधाने' से उत्पन्न शब्द 'रशन' का अर्थ है बन्धानु संयम। इसलिए अंगुलियां जो पकड़ती हैं उसको रशना कहा गया- 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधातां'[३२] दश रशनाओं से (शिकार) प्राप्त कर लिया गया। दुर्गाचार्य[३३] की व्याख्या इस प्रकार की 'रशनाभि: अन्त्रुलीभि: दश संख्या योगिनीभि: अभ्यधीतां प्रतिनिबंधनीताम्।' वाजसनेयी संहिता[३४] में 'रशनां विभ्रतं' पर महीधर का कथन है- 'रशनां रज्जुं विभ्रते स्वभावानुवाद: यूपे हि पशुबन्धाय रज्जुर्बध्यते'।

किन्तु 'रशन' का मुख्य अर्थ है घोड़े की लगाम जीन या उसके रथ में संयोजन के लिए रज्जु। 'अश्वं न रशनाभिर्नयन्ति'[३५] अर्थात् जैसे घोड़े को रशनाओं से पकड़कर ले जाते हैं। 'जग्राह वाचमश्वं रशनया यथा'[३६] जैसे रशना से घोड़े को पकड़ा वैसे ही वाणी को पकड़ा।

'अश्व रशनां' एक वैदिक प्रतीक है। अश्व का अभिधेय अर्थ घोड़ा है; किन्तु इसका प्रतीकात्मक अर्थ है- प्राणवायु। 'अश व्याप्नोति' से अश्व का अर्थ वह प्राण-वायु जो सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त होता है। ऋग्वेद में प्राण-वायु के लिए प्रचलित शब्द वात था- वातो हि प्राण उच्यते।[३७] वातस्याश्वा ऋज्रात्मना वहध्यै[३८] अर्थात् वातरूपी अश्व आत्मना, बिना किसी सारथी के सीधे वहन करते हैं। विशेष रीति से द्रष्टव्य है-

'वातस्य युक्तान्सुयुजश्चिदश्वान्कविश्चिदेषो अजगन्नवस्यु:[३९] अर्थात् अवस्यु नाम प्राज्ञ ने वात के अच्छी तरह जुते हुए घोड़ों को प्राप्त किया।

यह वातरशन प्रकार की योग साधना केशी तत्त्व से संयुक्त है। केशी का भले ही अभिधेय अर्थ प्रलम्ब केश युक्त पुरुष हो, इस प्रसंग में यास्क, शौनक, सायण आदि द्वारा दिया गया प्रतीकार्थ ही सार्थक एवं सारगर्भित है।

निरुक्त का निर्वचन है- केशी केशा: रश्मय: तैस्तद्वान् भवति।[४०] पुन: आगे कहा गया है- ज्योतिषी केशिनी उच्यते।[४१]

वृहद्देवता की भी यही उक्ति है- प्रकाशं किरणैकुर्वन्स्तेनैनं केशिनं विदु:।[४२] पुन: यह सूक्त स्वयं व्याख्या करता है 'केशदंज्योतिरुच्यये' अर्थात् यह मण्डलस्थ ज्योति प्रकाश है उसको केशी कहते हैं। जैसे ज्योतिष्मान अग्नि को शिखी अर्थात् केश से युक्त कहते हैं, वैसे ही केश के समान रश्मियाँ विकीर्ण करने वाले सूर्य, विद्युत और अग्नि की ज्योति को केशी कहा गया है। यह प्रकाश ही प्राण और अपान का संचालक है। इस प्रकाशमयी प्राणोपासना के कुछ तत्त्व ऋग्वेद में भी विद्यमान हैं- यथा 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणाद्पनाती। व्यख्यनमहिषो दिव:'।।[४३] अर्थात् 'द्युलोक के महिष सूर्य की रोचना (रोशनी, दीप्ति), शरीर के मध्य से संचरण करती है जो प्राण के अपान की ओर जाती है'। इस सन्दर्भ में भाष्यकार सायण का कथन है- अस्य सूर्यस्य रोचना रोचमाना दीप्ति: अन्त: शरीरमध्ये मुख्य प्राणात्मना चरति वर्तते। किं कुर्वती। प्राणादपानती। मुख्य प्राणस्य प्राणाद्या: पेचवृत्तय: तत्रा प्राणनं नाड़ीभिरूर्धव वायोर्निगमनम्। तथा विधात्... अपाननं अवान्नमुखं वायोर्नयनम्।

इस ज्योतिष्मती प्राणोपासना के तत्त्व यजुर्वेद अथर्ववेद और उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। यहां प्रश्नोपनिषद्[४४] से पिप्लाद का एक वचन उद्धृत है- आदित्यो वै प्राणो ..... अथादित्य उदयन्त्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधाने:''। अत: इसमें सारगर्भित तत्त्व यह है कि यह केशी वातरशन ज्योतिष्मती प्राणोपासना के योग का साधन करते थे, किन्तु इन स्थलों पर वातरशन जैसे किसी सम्प्रदाय की चर्चा तक नहीं की गई है।

केशीसूक्त की रचना के करीब एक हजार वर्ष पश्चात् तैत्तरीय आरण्यक में वातरशनों का तीन बार उल्लेख हुआ है। प्रथम स्थल[४५] पर स्वस्तिवाचन के पश्चात् अरुणकेतव और वातरशन का उल्लेख मात्र है। दूसरे स्थान[४६] पर वातरशन ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन है-

''स प्रजापतिरेक: पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामस्समवर्तत। इदं सृजयम्।.... स तपो तप्यत्। स तपस्तप्त्वा शरीरमधुनत। तस्य मांसमासीत् ततो अरुणा केतव: वातरशना ऋषया: उदतिष्ठत्। ये नरवास्ते वैखानसा:। ये वाला ते वालखिल्या:।।''

अर्थात् -वह प्रजापति पुष्कर पर्ण में एकाकी उत्पन्न हुआ। उसके अन्तर्मन में इच्छा उत्पन्न हुई इसका मैं सृजन करूं। उसने तप किया। तप करने के पश्चात् शरीर को धुना। उसका जो मांस था उससे अरुणकेतव वातरशनों की उत्पत्ति हुई। जो नख थे वे वैखानस हैं। जो बाल थे वे बालखिल्य हैं।

तीसरा उल्लेख कूष्माण्ड ब्राह्मण के अन्तर्गत कूष्माण्डहोम से सम्बद्ध है-

वातरशना हवा ऋषयश्श्रमणा उर्ध्व मंथिनः बभूवः।
तानृषयार्थमायंस्ते निलायमचरंस्ते नुप्रविविशुः कूष्माण्डानि।[४७]

अर्थात्- 'वातरशन ऋषि निश्चय ही श्रमण उर्ध्वमंथी (उर्ध्वरिता) हुए। जब अन्य ऋषि आए तो वे छिपकर विचरण करते हुए कूष्माण्ड में प्रविष्ट हो गए।' इस विवरण से ज्ञात होता है कि वातरशन आरण्यक तपस्वी थे और सम्भवतः (विष्णु-सम्प्रदायी) वैखानसों से सम्बद्ध थे। वे अग्नि चर्या करते थे और कूष्माण्ड होम उनकी अपनी विशेषता थी।

अभिधान सादृश्य के अतिरिक्त केशीसूक्त के वातरशन और तैत्तिरीय आरण्यक के वातरशनों में कोई समानता दिखायी नहीं पड़ती। न तो आरण्यकीय के वातरशन रुद्र से सम्बद्ध है, न मौनेय से उन्मदित और न ही वे पिशंग मल धारण करते हैं। दूसरी ओर ऋग्वैदिक वातरशन न तो अग्नि चर्या से सम्बद्ध है और न कूष्माण्ड होम से। अतः केशी सूक्त और तैत्तिरीय आरण्यक के आधार पर वातरशना परम्परा की निरन्तरता का इतिहास संरचित नहीं हो पाता।

इसी प्रसंग में शैव, वैष्णव और जैनमतों की त्रिविध परम्पराओं में समादृत ऋषभदेव के विषय में भागवत का निम्न विवरण दर्शनीय है। "धर्मान्दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनुवावतार[४८] अर्थात् -'वातरशन श्रमण उर्ध्वमंथी ऋषियों के धर्मों के आचरणों को दिखाने के लिए ऋषभदेव ने सात्विक वृत्ति से शरीर धारण किया'। भागवत पुराण (५.७.२०) में स्पष्टतः कहा गया है कि नमि के पुत्र ऋषभदेव वातरशना मुनियों में से एक थे। तैत्तिरीय आरण्यक की रचना के एक हजार वर्ष बाद लिपिबद्ध भागवत में वातरशन उर्ध्वमंथी श्रमण ऋषि का यह उल्लेख निश्चय ही विस्मयकारी है। इस दीर्घ अन्तराल में आरण्यक की यह समन्वित पदावली अन्यत्र नहीं दिखायी देती। ऋषभदेव के चरित्र की त्रिपथगा शैव, वैष्णव और जैन पुराणों में मिलती है और उसमें पर्याप्त भिन्नता है। शैव पुराणों में ऋषभदेव के चरित्र पर पाशुपत योग का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। वैष्णव पुराणों में विष्णु के विभवावतार रूप में ऋषभदेव पर भागवतीय प्रभाव दिखायी देता है, जबकि इन दोनों से यथेष्ट रूप में भिन्न जैन आदि पुराण में ऋषभदेव का चरित व्याख्यात है। यहां स्पष्टतः वैखानस आदि भागवतीय सम्प्रदाय के ढांचे में जैन आख्यान को प्रस्तुत करने का प्रयास दिखायी देता है।

'वातरशन', 'उर्ध्वमंथी' यह पदावली जैन परम्परा में स्वीकृत नहीं, वैखानस में प्रचलित रही होगी। अत: भागवत के इस उद्धरण से न तो वातरशनों के सम्प्रदाय की अविच्छिन्न परम्परा का साक्ष्य मिलता है और न जैन धर्म का वातरशन सम्प्रदाय से मौलिक सम्बन्ध का आधार ही दिखायी देता है। यह निष्कर्ष श्रीधर स्वामी के भाष्य से समर्थित भी है। उनका कथन है कि 'वातरशनानां दिग्वाससां पाषण्डिव्यावृत्यर्थमाह', जैनमत के दिगम्बर वेशधारी ऋषभदेव से विभिन्नता दिखाने के लिए उनसे व्यावृत्ति के लिए वातरशन पद का प्रयोग किया गया।

अस्तु, केशीसूक्त के एक हजार वर्ष बाद लिपि-निबंद्ध भागवत के आधार पर वातरशन श्रमणों की परम्परा के इतिवृत्त के सर्जन का साहस सम्भवत: इतिहासकार न जुटा सका और न यह साक्ष्य परम्परा वातरशनों का आदिम श्रमणों से सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम ही है।

पुन: मुनि तत्त्व विषयक परम्परा पर वापस आते हुए वैदिक वाङ्मय में प्राप्त इतर साक्ष्यों का संक्षिप्त अवलोकन कर लिया जाय। ऋग्वेद[४९] के 'धुनिर्मुनि:' की सायणीय व्याख्या बहुविधाशब्दोत्पादक मुनि: सुसंगत है। 'इन्द्रो मुनीनां सखा'[५०] और ताण्ड्य ब्राह्मण[५१] के मुनि भरण और वैखानस रक्षण से सम्बद्ध प्रतीत होता है। ऐतरेय आरण्यक[५२] मुनियों की गंगा यमुना के अन्तरालवर्ती प्रदेश में अवस्थिति का द्योतन करता है- गन्नायमुनयोर्मुनिभ्यश्च नम:।

इसी श्रृंखला में बृहदारण्यक उपनिषद्[५३] द्वारा की गयी मुनि की परिभाषा भी अवधेय है- "तस्मात् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं पाण्डित्यं च निर्विद्यार्थ मुनि:" अर्थात् -(लोक-सम्मान के परित्याग से) ब्राह्मण पाण्डित्य से विरत होकर बालक के समान रहने की इच्छा करे। बाल्य और पाण्डित्य से विरत होकर वह मुनि की स्थिति प्राप्त करता है। यहां बाल्य से तात्पर्य लौकिक ज्ञान का अभाव और पाण्डित्य से अभिप्राय है लौकिक वैदुष्य। इन दोनों के परित्याग से अथवा आत्मज्ञान की उपलब्धि से मुनि भाव सम्पन्न होता है।

शंकराचार्य[५४]ने इस स्थल के पाण्डित्य और मुनि-भाव को समानार्थक माना है। उनका कथन है 'मुनि शब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात् मननान्मुनिरित च व्युत्पत्तिसम्भवात् मुनीनामप्यहं व्यास:' इति च प्रयोग दर्शनात्"।

इसका तात्पर्य यह है कि व्युत्पत्ति और प्रयोग दोनों आधारों पर मुनि का अर्थ अनातिशय है। इसी प्रसंग में बृहदारण्यक[५५] की उक्ति है -

"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त: प्रव्रजन्ति:.... लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्य चरन्ति।"

अर्थात् -ब्रह्म-तत्त्व को जानकर वह मुनि होता है। ब्रह्म लोक की इच्छा करते हुए ये परिव्राजक प्रवज्या धारण करते हैं। लोक-सम्मान की इच्छा त्यागकर भिक्षाचरण करते हैं।

इसके पश्चात् ही सूत्रग्रन्थों में मुनि, भिक्षु, परिव्राजक और संन्यासी समानार्थक हो गए। मुनि शब्द चतुर्थाश्रमवाची हो गया। बौधायन संन्यासी को परिव्राजक, आपस्तम्ब मुनि, और गौतम भिक्षु कहते हैं इस प्रकार मुनि-परम्परा संन्यास में निमज्जित हो गयी है।

वैदिक वाङ्मय में अतीन्द्रियार्थदर्शी मुनि की दो परम्परायें है- प्रथम केशीसूक्त में निबद्ध है और द्वितीय मुनि कावषेय के सन्दर्भ में दिखायी देती है। वे परिव्राजक पिशंग (कषाय) वस्त्रधारी थे। प्राणोपासना इनकी केन्द्रीय साधना थी। ये वैदिक स्वाध्याय और अग्निचर्या के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे। ब्रह्म विद्या ही इनका ध्येय था।

दूसरी परम्परा यतियों की थी जिससे श्रमणों के मूल-सूत्र का सन्धान किया जाता है। यदि मुनि भारतीय आर्य अवधारणा है तो यति भारतेरानी धार्मिक परम्परा का एक प्रमुख तत्त्व है।

प्राचीन भारतीय मनीषियों तथा आधुनिक विद्वानों ने यतियों के विषय में विविध मतों का प्रणयन किया है। अधिकांश इसको इन्द्र-विरोधी वेदेतर तापसों के रूप में स्वीकार करते हैं। इनको आसुरी प्रजा मानकर या उनके असुर सम्बन्धों को ध्यान में रखकर उनके प्रति अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों में इन्हे श्रमणों का मूल रूप भी माना है।

प्रस्तुत प्रकरण में यतियों के स्वरूप का संक्षिप्त अनुसन्धान वांछनीय प्रतीत होता है।

'यत्-यत्' धातु से निष्पन्न 'यति' शब्द निश्चित ही 'आर्य' शब्द है। बांबेनिस्ते, बेली और तोपोरोव ने जो शोध-कार्य किया, उससे स्पष्ट होता है कि इस धातु का मूलार्थ है- उचित स्थान निर्धारित करना, अर्थात् नियति निश्चित करना, अनुवाद रूप में इष्ट पदार्थ प्रदान करना। इससे ही दूसरा अर्थ निकला- 'श्रद्धा-पूर्वक कृत्य करना या सादर अपने को देव के समक्ष उपस्थित करना है। इन दुहरे अर्थों के कारण 'यति' शब्द के दो अर्थ हो जाते हैं- देव विशेषत: मित्र जो नियति-निर्धारण करता है और देव पूजक जो श्रद्धापूर्वक देव-समक्ष अपने को उपस्थित करता है। इन देववाची और मानव-अभिधायक अर्थों के कारण मैकडोनेल, कीथ[16] आदि को भ्रान्ति हो गयी। देव-वाची को उन्होंने मिथक समझा और मानव को अभिहित करने वाले सन्दर्भों को ऐतिहासिक। ऋग्वेद में दोनों अर्थ

हैं- ''यद्देवा: यतय: भुवानान्यपिन्वत्[५७]''अर्थात् -जिस प्रकार यति देवों ने लोकों को (रश्मियों से या वृष्टि से) आपूरित कर दिया। यहाँ यति देववाची हैं।

ऋग्वेद में मित्र वरुण के साथ सम्बद्ध भृगुओं को भी यति कहा गया है। ऋग्वेद के दो स्थलों पर इसको प्रयोग किया गया है; जहाँ यति का सम्बन्ध भृगु से स्थापित किया गया है - 'यतिभ्यो भृगवे धाने हिते[५८]; तथा ऋचा में भृगुओं को स्पष्टत: यति कहा गया है -'यत यस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवु:। [५९]अर्थात् - हे इन्द्र! भृगु यतियों ने तुमको सन्तुष्ट किया।''

भृगुओं का वरुण से सम्बन्ध सुविख्यात है। शतपथ ब्राह्मण[६०] में भृगु को वरुण का पुत्र ही कहा गया- 'भृगुर्वै वारुणि:।' भृगु और यति का यह सम्बन्ध मित्रवरुण के उपासकों के रूप से यतियों की सम्भावना को पुष्ट करता है। इसके साथ ही साथ इस परम्परा में यतियों को आंगिरस कहा गया है। सायण[६१] अनेक प्रसंगों में कहते हैं -'आङ्गिरसा: यतय:।'

किन्तु कौषीतकी परम्परा में अरुर्मघों को यति कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता[६२] पर वेदार्थ प्रकाश की टीका पर माधवाचार्य एक कौषीतकी श्रुति का उद्धरण देते हैं - ''अतएव कौषीतिकन इन्द्र वाक्यमेत दामनन्ति....त्रिशीर्षाणां त्वाष्ट्रमहं अहनं अरुन्मुखान् यतीन सालावृकेभ्य: प्रायच्छम्।''

यहां यह तथ्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि विश्वरूप त्वाष्ट, यति और अरुर्मघों को पुरोहितों और असुर से सम्बन्धित माना गया। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या में यतियों को 'यतिवेषधारान् असुरान् और अरुर्मघों को ब्राह्मण वेषन् असुरान् कहा है। अरुन्मघ वे भारतेरानी देवोपासक थे जो भिषक् थे और विशेषकर रक्त-स्राव की चिकित्सा करते थे।

निष्कर्षत: यह स्पष्ट है कि मुनि परम्परा प्राक्-ऋग्वेदीय भारतीय आर्यों से सम्बद्ध थी। इसकी परिणति ब्राह्मण-भिक्षु-परिव्राजक वर्ग में हुई। यति परम्परा भारतेरानी युग से प्रारम्भ होकर क्रमश: क्षीण होती गयी, केवल 'यति' शब्द के अवशेष को छोड़कर जो बाद में परिव्राजकों और श्रमणों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इन दोनों परम्पराओं में श्रमण संस्कृति की कतिपय लाक्षणिक विशेषता प्राप्त होती है।

इसी शृंखला में ब्राह्मण-परिव्राजकों के प्राचीन इतिवृत्त का अवलोकन करना श्रेयस्कर है। साधारणत: चतुर्दिक भ्रमण करने वाले व्यक्ति को 'परित: चरति य:' परिव्राजक कहते हैं। पालि साहित्य में परिव्राजक का संकुचित अर्थ किया गया है-'आगारस्मा

अनागरियं पबज्जति' जो घर से निकलकर अनिकेत स्थिति में प्रवेश करता है, वह परिव्राजक है। बृहदारण्यक उपनिषद्[६३] में भी मैत्रेयी और कात्यायनी नाम की दोनों भार्याओं को और अपनी गार्हस्थिक सम्पत्ति को छोड़ने वाले याज्ञवल्क्य को 'अन्यवृत्तमुपाकरिष्यन्' गृहस्थ से भिन्न जीवन पद्धति को अपनाते हुए प्रव्रजिष्यन् कहा गया है। इसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए पुन: कहा गया है- एतमेव प्रव्रजिनों लोकमिच्छन्त: प्रव्रजन्ति। आगे कहा गया है कि 'पुत्र भार्याओं से समन्वित गृहस्थ की जीवन चर्या का परित्याग कर आगार को छोड़कर ब्रह्मलोक या आत्म साधना के लिए अनागारी हो जाना ही प्रव्रजन है'।

इस संदर्भ में निरुक्त में परिव्राजकों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद[६४] की एक ऋचा में कहा गया है- स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निऋतिमाविवेश। इस ऋचा पर यास्क[६५] टिप्पणी करते हुए कहते हैं -"बहुप्रजा कृच्छमापद्यत इति परिव्राजक:"। इसप्रकार परिव्राजकों का अस्तित्व ऋग्वेदीय काल तक जाता है। अत: यह स्पष्ट है कि परिव्राजक संसार को दु:खमय समझते थे। ऐहिक और आमुष्मिक सुख की प्राप्ति के लिए करणीय कर्मकाण्ड या अन्य उपासना में विश्वास नहीं करते थे। अतएव ये वैदिक धारा में अन्तर्भुक्त नहीं थे बल्कि श्रमणधारा में अन्तर्भुक्त थे।

यह विवेचन पालि- साहित्य में बहुश: प्रयुक्त 'समण-ब्राह्मण' युग्म को भी व्याख्यायित करने में समर्थ है। दोनों समण और ब्राह्मण समान रूप से समादृत थे। दोनों के लक्ष्य और प्रवृत्तियाँ समान थीं-दोनों ही शील, चित्त और प्रज्ञा से अभिप्रेत माने जाते थे। दोनों ही अनेक विधियों से अनेक रूपों में तपश्चर्या करते थे - "अनेन-परियायेन तयो जिगुच्छाय वण्णं भासन्ति।"[६६] श्रमण के समकक्ष इन ब्रह्म सम ब्राह्मणों के विषय में बुद्ध का वचन है -कथं च दोण, ब्राह्मणोब्रह-समो होति?....सो अट्ठचत्तालीस-वस्सानि कोमारं ब्रह्मचरियं चरन्ति.... । सोआचारियस्स आचारिय-धानं निज्ञं यादेत्वा केस-मस्सुं ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्मा अनागरियं पवज्जति"।[६७] अर्थात् -'द्रोण, ब्राह्मण, ब्रह्म-सम होता है? जो अड़तालिस वर्ष तक कौमार्य-व्रत धारण कर ब्रह्मचर्या करता है.....(और फिर) आचार्य को दक्षिणा निवेदित कर, केशश्मश्रु परित्याग कर एवं काषाय-वस्त्र धारणकर आगार से निकलकर अनागारी हो जाता है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय लोक धर्म' में धार्मिक कृत्यों एवं उत्सवों को सम्मान कराने वाले ब्राह्मणों को माखण/माहण के नाम से सम्बोधित किया है।

माहण प्रतिष्ठावाची ब्राह्मणत्व था। कल्पसूत्र[६८] में श्रमण भगवान् महावीर के जन्म का विवरण दिया गया-

"भगवं महावीरे...माहण-कुण्डग्गामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसग्गुत्तस्य भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधर-सगुत्ताए-कुच्छिओ खत्तियकुंडग्गामे नयरेनायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स...साहरिये।"

अर्थात् -"पूर्व तीर्थंकर के निर्देश के अनुसार श्रमण भगवान महावीर ने कुण्ड ग्राम नामक माहण-नगर में कोडाल-गोत्र्य ऋषभदत्त माहण की जालन्धर-गोत्र्य भार्या देवानन्दा माहणी की कुक्षि में गर्भ के रूप में प्रवेश किया।"

भगवान महावीर के अन्तिम उपदेश के रूप में सूत्रबद्ध उत्तराध्ययन सूत्र में 'विज्जा माहण संपया'[६९] कहते हुये विद्या को माहण की सम्पदा बताया गया है तथा ब्राह्मण को 'नाइसंगे.....बूम माहणं' कहकर उसे असंसक्त और अनासक्त[७०] बताया गया है। श्रमण की परिभाषा करते हुये 'समयाये समणो होइ'[७१] अर्थात् समभाव धारण करनेवाले को श्रमण कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि और ब्राह्मण के अन्तर को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि-

'न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बंभणों।
न मुणी रण्ण वासेणं कुसचीरेण न तावसो।।'[७२]

जैन साहित्य[७३] में मुनि के लिये साधु, संयत, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति आदि शब्द व्यवहृत हुये हैं। वहां मुनि की परिभाषा करते हुये कहा गया है- मननमात्रभावतया मुनिः। अर्थात् मनन मात्र भाव स्वरूप होने से वह मुनि है। अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञानी को भी मुनि कहा गया है।[७४] यथार्थ मुनि की परिभाषा देते हुये आचार्य कुन्दकुन्द रयणसार[७५] में कहते हैं कि 'जो मुनिराज सदा तत्त्व विचार में लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का आराधन करना जिनका स्वभाव है और जो निरन्तर धर्मकथा में लीन रहते हैं अर्थात् यथावकाश रत्नत्रय की आराधना व धर्मोपदेशादि रूप दोनों प्रकार की क्रियायें करते हैं, वे यथार्थ मुनि हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मुनि परम्परा अपने विकास में ऋग्वेद से लेकर महावीर काल तक की एक सुदीर्घ यात्रा करती है जिसमें मुनि के भिन्न-भिन्न अर्थ प्राप्त होते हैं पर सभी अर्थ मुनि के प्रचलित अर्थ (संन्यासी, परिव्राजक, भिक्षु आदि) से दूर नहीं हैं।

सन्दर्भ :

१. अमरकोश-२.४२
२. ऋग्वेद १०.१३६.२ पर सायण भाष्य
३. द्रष्टव्य टर्नर, ए कम्परेटिव डिक्शनरी ऑफ इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज।
४. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.२२
५. अवदानशतक, १०.१३६.२
६. उत्तराध्ययन सूत्र, २५.३२

७. धम्मपद- २६९
८. तैत्तिरीय आरण्यक, १.२७.६
९. हेमचन्द्र व्याकरण, ४.७
१०. पिशेल, प्राकृत व्याकरण, पृ० ४८९
११. प्राकृत-पैङ्गलम्, १.७५
१२. ऋग्वेद- १०.१३६
१३. वैदिक इण्डेक्स, २,पृ० १६८
१४. ऋग्वेद, १.१५२.१
१५. व्रही
१६. वही, ३.३१.२
१७. वही, १०.१.६
१८. अथर्ववेद २.७.७
१९. वही, ७.९४.३
२०. ऋग्वेद- ८.५५.३
२१. ओ०श्राडर, प्रिहिस्टॉरिक एण्टीक्विटीज, पृ० ३३३ पाद टिप्पणी।
२२. ऋग्वेद, ३.३१.२
२३. वही, २.३५.१३
२४. तैत्तिरीय संहिता, २.५.१.६
२५. शतपथ ब्राह्मण, १४.९.६.७
२६. वही, ४.५३.२
२७. वही, १.१३३.५
२८. वही, ५.५७.४
२९. ऋग्वेद,३.९.३
३०. श्रीधरस्वामीकृत भागवत- ५.५.३२
३१. निघण्टु, २.५.६
३२. वही, १०.४.६
३३. वही, ३.१४
३४. वाजसनेयी संहिता, २८-३३
३५. ऋग्वेद, ९,८७.१
३६. वही, १०.१८.१४
३७. अथर्ववेद, ११.४.१५
३८. वही, १०,२२.५
३९. वही, ५.३२.१०
४०. निरुक्त, १२.२५
४१. वही, १२.२६

४२. बृहद्देवता, २.६५
४३. ऋग्वेद, १०,१८९.२
४४. प्रश्नोपनिषद्, १.५-६
४५. तैत्तिरीय आरण्यक, १.२३.२
४६. वही,१.२४, ४-५
४७. कूष्माण्ड ब्राह्मण, २.७
४८. भागवत, ५.३.२०
४९. ऋग्वेद, ७.५६.८
५०. ऋग्वेद, ८.१७.४
५१. ताण्ड्य ब्राह्मण, १०.१४.४७
५२. ऐतरेय आरण्यक, २.२०.१
५३. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.५.१
५४. वेदान्तसूत्र, ३.४.४७ पर शांकरभाष्य
५५. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.२२
५६. मेक्डोनल-कीथ, वैदिक इण्डेक्स, खण्ड २, पृ १५०
५७. ऋग्वेद, १०.७२.७
५८. वही, ८.३.९
५९. वही, ८.६.१८
६०. शतपथब्राह्मण, ११.६.१.१
६१. ऋग्वेद पर सायण भाष्य, ८.३.९; ५.४५.७
६२. तैत्तिरीयसंहिता, २.५.५.१.१
६३. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.१-२
६४. ऋग्वेद, १.१.६४.३२
६५. निरुक्त २.२८
६६. दीघनिकाय, १.११४
६७. अंगुत्तर निकाय पृ. ४६८-६९
६८. कल्पसूत्र- २९
६९. उत्तराध्ययन, २५.१८
७०. वही, २५.१९-२९
७१. वही, २५.३२
७२. वही, २५.३१
७३. समयसार (आत्मख्याति टीका) -१५१
७४. चारित्रसार, कुन्दकुन्द, ४६.५
७५. रयणसार, कुन्दकुन्द, ९९

****

English Section

CONCEPT OF HUMAN RIGHTS IN JAINA PHILOSOPHY

Dr. Samani Shashiprajna

Jainism, one of the most ancient religions of the world originated and developed on Indian soil containing a profoundly progressive social attitude. Even in the antiquity start from the first Tīrthaṅkara Ṛṣabha to 24[th]Tīrthaṅkara Mahāvīra, Jaina preceptors discussed at length, how one can protect the rights of one and all. The very concept of Human Rights is becoming very popular in recent years as per UN declaration of the United Nations General assembly. This UNDHR contains a comprehensive list of political, economic, social and cultural rights and aims at the protection of the freedom, equality and human dignity of all human beings, irrespective of their race, gender, colour, language or religion. Never before in the history had there been such a far reaching and solemn undertaking to protect each and every individual from all forms of oppression and deprivation. With this paper I intend to share my views on the Jaina concept of Human Rights and its wide perspective.

The Concept of Human Race as One

Tīrthaṅkara Mahāvīra 2600 years back claimed that Human race is one i.e. *ekkā maṇussa jāi.* He never discriminated any human on the basis of his birth, colour, profession, religion, country, etc. He established the novel notion of oneness of Humanity on the basis of one's action. The criteria for a human lies in the virtue of compassion, sympathy, affection, service, and in the acts of benevolence. He propounded in *Uttarādhyayana Sūtra* that man is *brahmin, kṣatriya, vaiśya* and *śūdra* not by birth but by action.[1] Noble thoughts and actions (karmas) justify the human nature. He abolished the prevailing concept of considering one person as high or low on the basis of one's birth, and re-established the merit of action in the world of disparity.

The *Śvetāśvatara upaniṣad* (2.5) says : *Amṛtasyaputrāḥ* i.e. we all are the sons of the same immortal God. *Ātmavat sarvabhūteṣu* (*Śrimadbhāgavat* canto 6) i.e. behold all living beings as of equal intrinsic values as of oneself. The whole universe is single whole supporting trees keep suggesting for peaceful co-existence without discriminating between a man and a man on the narrow principles of class, colour, languages, province, caste or creed. Today we see there is a kind of absolute notion of sexual superiority, colour superiority, caste superiority, class, country and religious superiority which is creating reactive violence and inhuman behaviour in the name of untouchable considering the other as inferior.

The outstanding philosopher of the day Richard Rorty has discussed the cause of distinction between male and female. In male dominated society, only male are considered as human beings as they possess rationality. Women are emotional so they are not human beings. This kind of approach is threatening to the human solidarity.It is conceived both men and women nine times out of ten, are firmly convinced of the superior excellence of their own sex. There is abundant evidence on both sides. Today one man or one country fight with each other because their views vary. Views are bound to differ, because we are guided by different conditions, thoughts, modes and attitudes. Hence it is wrong to think oneself right and rest others wrong.[2]

Country Discrimination

We are all, whatever part of the world we come from, persuaded that our own nation is superior to all others. Seeing that each nation has its characteristics, merits and demerits, we adjust our standard of values so as to make out that the merits possessed by our nation are the really important ones, while its demerits are comparatively trivial. It is more difficult to deal with the self-esteem of man as man because we cannot argue out the matter with some non-human mind.

Caste Discrimination

The only way I know of dealing with this general human conceit is to remind ourselves that man is a brief episode in the life of a small

planet in a little corner of the universe, and that we know, other parts of the cosmos may contain beings superior to ourselves as we are to jelly fish.

In this context, Right to equality and non discrimination Act of 14, 15, 16 Article of Human Rights also claims the rights of equality of all the human beings without considering above mentioned discrimination. Mahāvīra rightly said that man is *brahmin, , kṣatriya, vaiśya* and *sūdra* not by one's birth, but by one's action.[3] He abolished the prevailing concept of considering one person as high or low on the basis of one's birth *'no hīne no airitte'*[4] and he initiated Harikeśabala[5] an outcaste into his religious order. He allowed to read and study the scriptures to *śūdras,* which was prohibited in Vedic culture and religious society.

During Gandhian period our history witnessed the *śūdras* are considered as untouchables and they were prohibited to enter into temples, their children's were not allowed to admit in certain schools, they were not allowed to touch the water pot and even touch the *brahmins.* If any *śūdra* violated this, he will be punished severely. The novel-'untouchable' written by R.K. Narayan highlights the social behaviour with *śūdras.* In this novel, he writes 'They clean our dirt so they are untouchable, if it is so then each one of us are untouchable as we also clean our own dirt. Such an open-mindedness in thought is the need of the hour'.

Colour Discrimination

The central philosophy of Western Post-modern philosopher Richard Rorty is achievement of Human solidarity i.e. to consider the other person not like external, outsider or foreigner, but as one of the member among us. Rorty has given five examples how it threatened the human relationship. During IInd world war by Nazis led by Hitler claimed that only Germans have pure blue blood. All the rest are like animals, so let us kill and make the world of human. Due to this one-dimensional perspective lacs of Jews were killed in concentration camp.

Even the inhuman behaviour with black people in the west by the white people is really cruel. The whites don't consider blacks as one among them in present united states. They are deprived from certain privileges of the country, certain professions etc. The kids of black people were not admitted in the convent schools where white people's kids study. Although civil rights movement occurred against their discrimination, still a kind of segregation is prevailing. Moreover white people community stay in particular area and rich white people live in highly crowded area, they don't stay together. Even policemen too misbehave with black people. All these because of difference of skin colour, only change of perspective can do away this problem. So let us recognize that to be human doesn't require anything but only love, affection, compassions for all human brothers and feeling for sufferings of others.

Women Discrimination

Women in Jainism:

Jainism that started, maybe during the 6th century B.C. or perhaps even earlier according to some sources clearly states that all men and women are spiritually equal and that women too are capable of salvation. Both men and women may renounce the world. The story of the 19th Tīrthaṅkara Mallinātha Deva, clearly shows that it is possible for a woman to become a Tīrthaṅkara. In Jainism, the codes of ethics - non-violence, truth, non-stealing, purity of body and soul and non-possessiveness are common to men and women.

At the time of Mahāvīra (6th -5th century B.C.) there were no sects in Jainism. Only later, sects like Digambaras, Śvetāmbaras etc. came into existence. Digambaras insist on nudity and declare that a mendicant must renounce all property including clothes, the only exception being a small whiskbroom for brushing insects and a water gourd. They argue that Mahāvīra himself was a naked monk but say that renunciation of clothes is not mandatory. Thus, clothes came to occupy a central position in the debates on possible salvation of women. This barred women in the Digambara sect from attaining

mokṣa and this led to the formulation of the doctrine that a person could not attain *mokṣa* while having a female body. If the principle of *anekāntavāda* is taken into account, these two are only points of view and do not represent or only partially represent the Jainist doctrine.

The Yāpanīya sect combined the two practices; the male mendicants went naked and said that nudity was not necessary to achieve *mokṣa* for women. It is interesting to note that no other school except the Jainas ever questioned the inherent capacity of a woman to attain *mokṣa* in her present body and her present life. The path to *mokṣa* according to the *Tattvārthasūtra,* accepted by both the schools consists of three jewels - right view, right knowledge and right conduct. If the three are found in women too, there is no deficiency to the attainment of *mokṣa.*

Mahāvīra rightly said that man is *brahmin, śūdra, kṣatriya* and *vaiśya* not by one's birth, but by one's action.[6] He abolished the prevailing concept of considering one person as high or low on the basis of one's birth. He initiated a slave laywomen named Candanabālā to enter into the life of nunhood and paved her way to the path of liberation. He provided the right to renounce for the women race which other Vedic, Digambara Jaina tradition itself against allotting this kind of freedom. Mahāvīra made an epoch making revolution by declaring the emancipation of women and re-established the merit of action (karma) in the world of social disparity prevailing in the name of sex, caste, country and so forth.

Mahāvīra's attitude towards women folk was very liberal. He saw the innate, good of both men and women and assigned them their due place in his order. In his religious order, sex was no barrier to attaining saint-hood and ultimately the liberation. Jaina women had similar duties to men in performing religious rites and rituals and were allowed to read and study the scriptures. Whereas in Vedic culture and religious society, women and *śūdras* were considered as inferior, debarring them from the initiation rites and wearing the sacred thread, a symbol of higher caste.[7] Moreover women and manual

workers *(śūdras)* were not allowed to listen to sacred scriptures.[8] Tīrthaṅkara Mahāvīra gave full freedom to one and all, including women and the *śūdras*, to observe common religious practices. He gave an equal opportunity to everybody, irrespective of his class, caste, or birth, or sex, to practice religion according to one's capacity. On the other hand, Mahāvīra liberally initiated the nuns in his order, which is double in number when compared with the monks. In his order, there were only 14,000 monks but there were 36,000 nuns.[9] In the same way, the numbers of laywomen is 3,18,000, which is more than the number of 1,59,000 laymen.[10] He propounded that the difference, which we see in the world is due to the past *karmas* and each soul through one's pious efforts can change ones destiny.

In this century, it is getting more and more proved that all forms of oppression against women are based on ignorance and an error. In earlier centuries, denial of opportunities to education, access to knowledge and economic empowerment deliberately done by the patriarchal system clearly kept women -almost half of the total population - within the four walls, but now the floodgates have been opened and they have all the opportunities to get educated and take up all kinds of responsibilities.

In conclusion one can say that mankind and womankind are parts of a composite humanity and are equal with no difference. It is getting proved now that the world consists of two parts, without one the other is incomplete, defective and deficient. It has been rightly said that God - neither a female nor a male, judges human actions. God never asks, "Art thou a woman or art thou a man?"

A productive partnership-based critical appreciation of the complexities in gender relation can alone reorganize the structures of the society and change the individual mindset and the institutional psyche. We should try to create a new world in the new millennium so that the present and future generations may enjoy a richer and harmonious life without making the same mistakes again.

According to my view, the very notion of the concept of Human Rights is imperfect, very limited and really violent which violates

and completely negates the rights of all the non-human beings. Certainly, the non-human bodied beings are one which I want to propagate and investigate. But I found that Jains do not usually frame the matter in terms of the rights of non-humans. But Jains speak of the moral duty and responsibility of human towards all the non-human beings. Every right has a corresponding duty, without duties there can be no rights. This duty and rules are most clearly enunciated in the cardinal Jaina principle of Non-violence. If this view of Jaina concept of equanimity is translated into reality, I think that reactive violence, unnecessary violence, intellectual violence, emotional violence at large can be avoided, which in turn can protect the rights of all forms of life and not merely human rights.

For Jainism, role of religion is to unite all through love and respect for one another. We must also work for the survival of religious diversity. Let every religion exist and flourish, let them serve the world in their own ways. Flourishing together is the secret of peace. Unity-in-diversity is the lesson of life. This spiritual unity through Surat Spiritual Declaration connects all, the whole creation in the words of Acharya Mahapragya.

In sum and substance, it can be concluded that flourishing together is the secret of peace from Jaina perspective. Unity in diversity is the lesson of life. "So let us guide ourselves and our followers not just to tolerate but to respect other persons points of views and religions, not just to exist but to co-exist, not just to hail but to help others. We must not prosper and progress at the cost of others, but sacrifice a part of ourselves for the good of others, because in the good of others lies our own, in the progress of others rests our own and in the joy of others abides our own," says Acharya Mahapragya, in his address at Surat Spiritual Declaration.

References:

1. *Uttarādhyanna Sūtra,* verse 12.
2. Nemichandra Shastri, *Vishva Shanti aur Jaina dharma.*
3. *Uttarādhyayana Sūtra,* 25.31

4. *Ācārāṅga-sūtra*, 2.49

5. *Uttarādhyayana Sūtra*, 12.1

6. Ibid, 25.31

7. *Manusmṛti*, 1.103.

8. Ibid, 1.38.

9. *Kalpasūtra*, 1.134, 135.

10. Ibid, 1.136, 137.

Bibliography

Ācārāṅga Sūtra. Ed. Yuvacharya Mishrimalji 'Madhukara' With Original Text, Hindi version, Notes, Annotation and Appendices, Shri Agam Prakashan Samiti, Beawar, 1998.

Ādipurāṇa of Jinasenācārya, Ed. Pannalal Jain, Bharatiya Jnanapith, Varanasi, 3rd edn. 1988.

Tattvārtha Sūtra of Umāswāmi, Ed. J.L. Jaini, Barrister Champat Rai Jain Trust, Delhi, 1956.

Uttarādhyayana Sūtra, Ed. Muni Mishrimalji Maharaj, Trans. Muni Rajendra, Agam Prakashan Samiti, Beawar, 1991.

Manusmṛti of Kulluka Bhatta, Ed. Gopal Shastri Nene, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1970.

Kalpasūtra of Bhadrabāhu Svāmī, Trans. Kastur Chand, Motilal Banarasidass, Delhi, 1979.

Mahaprajna, *Economics of Mahāvīra*, Adarsh Sahitya Sangha, Delhi, 2004.

****

CONCEPT OF CONSCIOUSNESS IN JAINISM

Prof. Dharmchand Jain

Philosophy is the root cause of origination and development of science, because philosophy gives ideas for inventions and experiments. But there is a basic difference between science and philosophy that science has made its field of experiments on matter (pudgala) only, where as philosophy has much wider field of knowledge and formless entities like soul. If we think about the concept of consciousness according to the various branches of science, then consciousness can be defined as the activity of sense-organs, mind, brain and the cells, and when consciousness is defined according to Jaina philosophy then it is an attribute of a soul, which could not be known through the empirical or materialistic instruments.

Consciousness and soul

The word 'consciousness' is used mainly in two meanings - 1. Alertness (awareness) and 2. Feeling of livingness (cetanā). In Jainism word *'apramāda'* is used in the sense of alertness and *'upayoga'*, *'prāṇa'*, *'sañjñā'* for the feeling of livingness. In Jainism, a soul is considered as the ultimate source of consciousness. Consciousness is the very nature of a soul with or without body. If the soul departs from the body, sense organs and brain do not work; the body is called dead. So it is a question for the scientists that how the consciousness arises and how it vanishes? Where does it come from and where does it go? Except the Cārvāka thinkers, all the branches of Indian philosophy accept the concept of soul which is the source of consciousness. Nyāya and Vaiśeṣika philosophers mention soul as omnipresent, but they accept its consciousness limited to body. Vedānta philosophers propound omnipresent *Brahma* and living beings as its part (caitanyāṃśa). Buddhist philosophers do not accept soul as eternal entity. They accept a flow of consciousness which is called *vijñāna* or *citta*.

Jaina philosophy is specific in this regard. It stresses that the soul of living beings resides within the body. Every living being is having a different or independent soul. A soul is a knower; sense organs, mind and brain are the instruments for knowing the objects. This soul has a nature of consciousness which serves consciousness in different parts of the body including brain, nervous system and every cell.

It is difficult to define a soul, but consciousness is the very nature of a soul. According to *Uttarādhyayana-sūtra* knowledge (jñāna) intuition or observation (darśana), conduct (cāritra), penance (tapa), internal power (vīrya) and cognitive application (upayoga) are the nature of a soul.[1] We can know a soul through its attributes or activities. Knowledge (jñāna) and apprehension or intitution (darśana) are the main characteristic of a soul. In *Vyākhyāprajñapti Sūtra*, it is stated that soul is knowledge (right or perverted) and knowledge is soul. Soul is *darśana* and *darśana* is soul.[2] In this way the nature of a soul can be defined as knowledge (jñāna) and intuition (darśana). Application of these two is called as *upayoga*. This *upayoga* is consciousness.

There are eight types of soul - 1. a soul as a substance (dravyātmā), 2. a soul with passions (kaṣāyātmā), 3. a soul with activities of mind, speech and body (yogātmā), 4. a soul with cognitive activity (upayogātmā), 5. a soul with attribute of knowledge (jñānātmā), 6. A soul with attribute of intuition (darśanātmā), 7. a soul with conduct (cāritrāmā) and 8. a soul with attribute of internal power (vīryātmā)[3]. Basically a soul is a substance, but when it exhibits any of the above characteristics or it enjoins passions etc then it is addressed by the respective names.

Consciousness and its various levels

Consciousness can be technically termed as '*upayoga*' in Jainism. *Upayoga* is an application of cognitive and intuitive ability of a soul. Consciousness includes an attitude, vision and conduct of a living being. Cognition of happiness and sorrow also denote consciousness.

There are many levels of consciousness; we can put them in the following categories.

1) Consciousness as *apramattatā* or alertness.

2) Consciousness as *upayoga* or knowing activity.

3) Consciousness as *prāṇa* (active ability of sense organs, mind, speech, body, respiration and life-span).

4) Consciousness in body

5) Consciousness as *sañjñā* (eagerness to eat, feeling fear, sexual desire, desire of possessiveness).

6) Consciousness as v*edanā* or feelings

7) Consciousness expressed in *vīrya* or enthusiasm.

In this way, there are many levels or kinds of consciousness experienced by a living being. A pure and complete consciousness is found in the liberated souls (having destroyed the eight *karmas*[4]) and in pious souls having destroyed the four *ghāti karmas* namely *jñānāvaraṇa, darśanāvaraṇa, mohanīya* and *antarāya.*

Variations in Consciousness and Apramattatā

Mostly living beings on the earth are having karmic bondage, hence the consciousness is not fully manifested in them. There are six categories of the living beings on the basis of variation in manifestation of the consciousness. The living beings having only one tactile sense organ are the lowest in manifestation of their consciousness. Two sensed beings can manifest more consciousness than one sensed, three sensed beings more than the two sensed beings; In this way five sensed beings are able to manifest more consciousness. The being having mind with the five sense organs are quite more able in expressing consciousness. The human beings possessing a right view can express more consciousness. The degree of consciousness increases in experience of pious conduct and character. In Jainism a holy monk with five *mahāvratas* (i) abstinence

from violence (ii) abstinence from falsehood (iii) abstinence from theft (iv) abstinence from sexual desire (v) abstinence from possessiveness, five *samitis* or vigilances (in movement, speaking, eating, handling things and evacuation) and three *guptis* (as control of mind, speech and body) bears more vividness in consciousness. A monk having alertness in every activity expresses more consciousness. In this way living with alertness shows high level of consciousness. A laity having five small vows (aṇu-vratas) is also on the path to live with better consciousness than a lay man, if he is alert in doing activity with awareness.

Consciousness as Upayoga

'*Upayoga*' denotes the cognitive function of a living being. It includes knowing through sense organs, mind and directly through a soul.

• *Upayoga* is of two kinds:

i) Knowing in a constructive or articulate form i.e. *jñāna* and

ii) Knowing in *nirvikalpaka* or in-articulate form i.e. *darśana.*

Jñāna and *darśana* are the key factors of *upayoga* or cognitive function. In *Nandīsūtra* and other texts of Jaina philosophy five types of knowledge are mentioned as *matijñāna* (sensuous knowlwdge), *śrutajñāna* (scriptural or verbal knowledge), *avadhijñāna* (visual intuition), *manaḥparyāya jñāna* (intuition of mental modes) and *kevalajñāna* (pure and perfect knowledge). Among these knowledges, *matijñāna* appears in a soul through sense-organs, or mind or by both. Sense organs and mind are the instruments; consciousness comes in these organs from the soul. *Matijñāna* or *ābhinibodhika jñāna* includes recognition, thinking, reasoning, intellect and inference in it. Knowledge of former birth (jāti-smaraṇa-jñāna) is also a phenomenon of *matijñāna.* Four types of intellect (autpāttikī, vainayikī, karmajā and pāriṇāmikī) are also the part of *matijñāna.* All intellectual activities of a person denote consciousness. *Śrutajñāna* appears in a living being as verbal knowledge or as discriminative knowledge (vivekajñāna). Discriminative knowledge is a significant

nature of consciousness. *Avadhijñāna, manaḥparyāyajñāna* and *kevalajñāna* appear directly in a soul. Through *avadhijñāna* material world can be known without the use of sense organs and mind. *Manaḥparyāyajñāna* is also direct knowledge, by which mental modes of others are known by a conscious monk. *Kevalajñāna* is a pure and perfect knowledge with which everything with its every mode is perceived lucidly.

Knowledge illuminates itself as well as the object. In *Niyamasāra* Acārya Kundakunda propounds the self-luminosity of knowledge. He says - *appāṇaṃ viṇu nāṇaṃ, nāṇaṃ viṇu appago na saṃdeho/ tamhā saparapayāsaṃ nāṇaṃ tahā daṃśaṇaṃ hodi//*

(Knowledge is not without a soul and soul is not without knowledge. It is doubtless, hence knowledge is self and object illuminating. *Darśana* is also self and object illuminating like knowledge.)[5]

Darśana is also a significant term in Jaina scriptures to denote consciousness. It is an in-articulate cognition, which is succeeded by articulate-cognition i.e. knowledge. There are four types of *darśana*- (a) *cakṣu-darśana* (in-articulate cognition through eyes), (b) *acakṣu-darśana* (in-articulate cognition through mind and sense organs other than eyes), (c) *avadhi-darśana* (in-articulate cognition directly by soul succeeded by avadhi-jñāna) and (d) *kevala-darśana* (in-articulate cognition or intuition directly by a soul succeeded by kevalajñāna).

Every soul has an essential attribute of in-articulate cognition and articulate cognition. Both of these cognitive attributes are manifested as consciousness in a sequence of in-articulate and articulate manner. The scientists have explored the system of knowing through sense organs and their link with the nervous system and brain, but they do not have reached up to the source of consciousness.

There are four stages of knowing the material objects through sense organs i.e. *avagraha, īhā, avāya* and *dhāraṇā. Avagraha* is a primary knowledge in which an object is known without its specific properties.

Īhā is a knowledge having inclination to know the object with its property, and the ascertaining knowledge about the object is called *avāya.* When that *avāya* goes into retention, then it is named as *dhāraṇā* knowledge. These four stages are very important in learning process. Why children do not learn the lesson properly? Its answer is lying in the Jaina principle of learning through stages of *matijñāna.* This principle is useful in the educational psychology. This is a psychological science of learning that if a learning process is up to retention, then memory takes place. Without retention memory cannot take place.

Consciousness as Prāṇa

Prāṇa (vitality) is another technical term in Jaina scriptures which shows consciousness in a living being. This '*prāṇa*' word has a different meaning from the meaning which is referred in Yoga philosophy. In Yoga philosophy word *prāṇa* has been used for vital airs which are of five kinds- *prāṇa* (air inhaled and exhaled), *apāna* (air goes out through anus), *vyāna* (air pervaded in the whole body), *udāna* (air in throat), *samāna* (air in the stomach). In Jainism *prāṇas* are of 10 types 1. auditory sense, 2. visual sense, 3. olfactory sense, 4. gustatory sense, 5. tactile sense, 6. mental force, 7. power of speech, 8. power of body, 9. respiration and 10. *karma* related to life span (āyuṣya karma). The *prāṇas* depict the living power of the five sense organs, body, speech, mind, respiration and *āyuṣya karma.* Every sense organ has power to work. If that sense organ is damaged or harmed then that does not work as knowing instrument. A person can live life even in the non-working position of some sense organs, but the working power of sense organs denotes consciousness. I hear a word, I see a bird, I smell a flower, I taste a candy, I touch a chair- all these knowing activities show consciousness of sense organs and also of a knower. A knower remains the same in knowing process with the help of different sense organs. We feel consciousness in the functioning of mind and speech. We feel consciousness in the whole body also. In the violence these *prāṇas* are affected and at the time of death these *prāṇas* are destroyed. According to Jainism sense organs, body, mind, speech are made of

pudgala or material contents, but these are having consciousness due to association with the conscious soul.

In Jainism, mind is made of matter (pudgala), but it has a quality of thinking and desiring, hence mind also bears consciousness. A conscious mind is very useful for a real development of a human being. If it is controlled or restrained, then it is useful for spiritual development, if it is uncontrolled or wanton, it is a big cause for fall of a person. Neurologists talk about brain and accept that mind is a product of brain. According to Śvetāmbara Jaina texts, this mind is a separate entity and pervaded in the whole body, whereas Digambara texts accept its shape as eight feathered lotus flower and its residence in the heart only. But mind is used in every knowing activity of sense organs and its own. In *Vyākhyāprajñapti-sūtra* a question has been raised that a mind is conscious (sacitta) or unconscious (acitta)? Answer has been given that mind is not conscious, it is unconscious[6]. Here it is to be clarified that mind is different from a soul[7] and it is made of matter or *pudgala*[8], hence it is not conscious, but is found only in living beings[9] and formed at the time of thinking only.[10]

A sense organ is associated with an object, mind is associated with that sense organ and the soul is associated with the mind. This is the procedure of knowing the objects through sense organs. Somewhere a soul can know the objects directly through the mind. Sorrow and happiness can be known in this manner. Psychologists accept mind as a separate entity and Freud mentions three types of mind as- conscious, unconscious and sub-conscious. We are aware of the conscious mind. A big part of our mind remains unconscious, which has a store of imprints of our unfulfilled wants and *saṃskāras*. Sub-conscious mind has a function to get some feelings or desires from conscious mind to unconscious mind and from unconscious mind to conscious mind.

Consciousness in body

Jaina scriptures enumerate five types of bodies as {1} gross body (audārika), {2}protean body, (vaikriya), {3}translocational body

(āhāraka), {4}luminious body, (taijas śarīra), {5}karmic body (kārmaṇa). In these five types of body, we are aware of the gross body only. All human beings, animals, birds, insects, plants etc. are having gross or *audārika* body. This body is made of gross material. *Vaikriya* body is found in heavenly bodies (devas) and hell bodies (nārakas) by birth. In human beings this body may enjoin the gross body after some required spiritual achievement. This body can have different modes on the will of its owner. *Āhāraka* or translocational body is a subtle body which is used by a monk having a vast knowledge of 14 *pūrvas*. This body is used to get answers from a Tīrthaṅkara residing in a distant place like Mahāvideha. This subtle body comes out from the gross body and after getting answer, it enters again at its place. This body may be a mystery for the biologists. *Taijas* and karmic bodies are more subtle and these are not obstructed by any obstacle. These two bodies are found in every non-liberated soul. Karmic body is a store house of *karma* bondage, and luminous or *taijas* body maintains a level of energy and it is helpful in the procedure of digestion etc. These two subtle bodies live with a soul even in the way of getting a new birth.

Biologists have done experiments on gross body, but they do not know about *vaikriya, āhāraka, taijas* and karmic bodies. In present human beings vaikriya and āhāraka bodies are often unavailable, but taijas and karmic bodies are liable for investigation. If something is known after experiments that might be a pace in the biological science, knowing the mystery of life.

Consciousness as Sañjñā

An instinct desire or *sañjñā* also indicate consciousness in a living being. There are four famous *sañjñās* - 1. eagerness for food (āhāra sañjñā), 2. feeling of fear (bhaya sañjñā), 3. sexual desire (maithuna sañjñā) and 4. desire of possessiveness (parigraha sañjñā). These four *sañjñās* are experienced in every living being including the plants. Every living being feels hunger and wants to take food. It makes effort for gaining food. Feeling of fear is also a characteristic of

worldly living beings. All living beings fear from death, harm etc. This fear is found only in the worldly soul. Sexual desire is also a phenomenon of consciousness. This desire may have three forms - 1. Desire of intercourse of a male with female. 2. Desire of intercourse of a female with male. 3. Sexual desire of hermaphrodite. This is a desire of reproduction. Possessiveness is also found in conscious beings. Human beings, insects and even plants bear this phenomenon. The non-living things do not bear these four *sañjñās.*

Consciousness as Vedanā

Vedanā is another technical term of Jainism, which denotes an experience of happiness and sorrow, coldness and hotness etc. by a living being. This *vedanā* is felt on the level of mind and body. It may be a result of the karma-bondage. Pleasure or comfort may be felt through five sense organs and mind.

Consciousness as Vīrya

Enthusiasm or power (vīrya) is also a significant nature of consciousness. A living being feels enthusiasm with in him to do something. Where does from this enthusiasm come? Generally it is accepted that energy comes from the food which we eat. Vedic statement '*annaṃ vai prāṇaḥ*' proves it. It is true that without food body cannot run for a long time. Food is the source of energy to work through body. Body is made of *pudgal*, so *paudgalika* food is required to sustain it. Soul has its own enthusiasm or power which is expressed in mental power and in emotional balance. Soul gives consciousness to body, but it has to leave the body, if it is not capable to sustain in consciousness. If the body is decayed and *prāṇas* are arrested then soul leaves that body and goes to take birth in a new body with two subtle bodies namely *taijas* and *kārmaṇa.*

Conclusion

Science has reached in its research up to consciousness of brain, cells and genes and it has proved that cells of the body are changing every moment. Body cells are renewed in a certain time interval;

hence food is needed for this activity of change. This gross body cannot survive without food. According to Jainism, animation in gross body, brain, genes etc. is found due to consciousness of the soul. In the presence of a soul all of these work consciously.

Science has done experiments on the matter or *pudgala* having eight touch qualities[10] Eight types of touch are- cold, hot, smooth (positive charge), rough (negative charge), light, heavy, soft and hard. Gross body, blood, brain, genes are the matter of eight touch qualities. Jaina scriptures propound a matter of four touch quality and two touch quality also. *Kārmaṇa* and *taijas* bodies are the example of four touch quality matter. These should be taken up for an experiment by the scientists. *Paramāṇu* or atom in Jainism has been propounded with a quality of two touches of smooth (positive charge) or rough (negative charge) and hotness or coldness. Matter can be the part of experiment by instrument, but the real consciousness of soul is difficult to come under the purview of experiments. Its approval has three sources according to Jaina philosophers-

1. Self-perception or self-realization

2. Inference- There are many logical arguments by which an entity of soul is approved. In *Rājapraśnīya-sūtra* Keśīśramaṇa has given so many arguments to king Pradeśī for establishment of a soul which is different from a body. Sense organs, mind are the instruments; someone should be the user of these instruments and that user is a soul.

3. Canonical literature- The enlightened souls have told about the independent existence of a soul, by which consciousness is felt in a body.

It is interesting to know that violence of *prāṇas*, falsehood, theft, sexual copulation, possessiveness, anger, pride, deceit, greed, attachment, aversion etc. eighteen (18) sins appear in a soul[12], but these are having a characteristic of subtle *pudgal* having five colours, two odours, five tastes and four touches (cold, hot, smooth and

hard). Scientists have done experiments on subtle matter, but still they have to do experiments on the intensity of anger, pride, deceit, greed, attachment, aversion etc. These experiments will help a human being in understanding the intensity of these passions and disorder. Knowing the intensity a person will be aware enough to reduce these sinful emotions and activities. At present the examination of blood, sonography, MRI, CT scan are quiet helpful in the physical health. The examination of anger etc. will be quiet helpful for mental and spiritual health.

References :

1. *nāṇaṃ ca daṃsaṇaṃ ceva carittaṃ ca tavo tahā. vīryaṃ uvaogo ya eyaṃ jīvassa lakkhaṇaṃ - Uttarādhyayana-sūtra*, Chapter 28
2. *Goyamā āyā siya nāne, siya annāne, nāne puṇa niyamaṃ āyā Goyama āyā niyamaṃ damsane, damsane vi niyamaṃ āyā. - Vyākhyāprajñapti-sūtra, śataka* 12, *uddeśaka* 10, *sūtra* 10-18
3. Ibid, *śataka* 12, *uddeśaka* 10, *sūtra* 1
4. Eight karmas are - *jñānāvaraṇa, darśanāvaraṇa, vedanīya, mohanīya, āyuṣya, nāma, gotra* and *antarāya.*
5. *Niyamasāra*, 171
6. *sacitte bhante! maṇe? Goyamā! no Sacitte maṇe, acitte maṇe. - Vyākhyāprajñapti-sūtra, śataka* 13, *uddeśaka* 7, *sūtra* 11(2)
7. *āyābhante! maṇe? aṇṇe maṇe? Goyamā! no āyā maṇe, aṇṇe maṇe* -ibid, *sūtra* 10
8. *rūvi bhante! maṇe arūvi maṇe ? Goyamā rūvi maṇe, no arūvi maṇe* - ibid, *sūtra* 11(1)
9. *jīvāṇaṃ bhante maṇe, ajīvāṇaṃ maṇe ? Goyamā ! jīvāṇaṃ maṇe no ajīvāṇaṃ maṇe* - ibid, *sūtra* 11(4)
10. *puvviṃ bhante maṇe, maṇṇijjamāṇe maṇe? maṇasamayavīikkante maṇe ? Goyamā! no puvviṃ maṇe, maṇṇijjamāṇe maṇe no maṇa samaya vīikkante maṇe-* ibid, sūtra 12
11. Eight types of touch are - cold, hot, smooth (positive charge), rough (negative charge), light, heavy, soft and hard
12. *Vyākhyāprajñapti-sūtra, śataka* 20, *uddeśaka* 3, *sūtra* 1

****

MANIFESTATION OF ETHICS IN JAINA ART

Prof. M. N. P. Tiwari

Indian culture is the wonderful confluence of varied cultural trends, religious thought, philosophy and art, and Jainism has been one of its main streams. Somehow, Jainism could not receive adequate attention earlier, despite the fact that it has contributed immensely and equally to the development and enrichment of Indian culture, literature, art and architecture.

The *dharma* and *kalā* in Indian context go hand in hand and virtually the religious thought and concept find visual expressions in different forms of *kalā* like architecture, sculpture, icon, painting and performing art. These all in Jaina context are the vehicles of the principal ideas of morality (ethics- naitikatā), spirituality and austerity which mainly comprise the *anekāntavāda, satya, ahiṃsā, aparigraha* (tyāga or non-acquisition) and unceasing respect for *prakṛti*- nature (flora and fauna). All these took not only to their Jinas or Tīrthaṅkaras (highest in Jaina worship) to the state of *ānanda* of self realization (kevala-jñāna) but brought them back to the society to share their experience with the massess to drive the entire humanity out of the snare of bondage of *karma* (karma-bandhana) to attain the real supreme *ānanda.*

The Jaina ethic aims at improving oneself by eradicating one's *rāga* and *dveṣa*, attachment and aversion (and becoming vītarāgī), which actually are the four passions--anger, involvement in unreal things (pride), deceit and greed. If these are brought under control, the *ātman* is on the path of *ānanda*- salvation (nirvāṇa or mokṣa). Of the four human objectives (puruṣārthas), yearning for wealth and happiness must be subordinated to *dharma* (religious attitude), which takes one to path of morality leading to the final liberation from the boundage of actions (karmas) and which alone would bring experience of *ānanda.*

The worship of the Jinas involves the adoption of a number of moral / ethical virtues, such as non-violence (ahiṁsā), truthfulness (satya), non-thieving (asteya), celibacy (brahmacarya) and non-acquisition (aparigraha), apart from having respect and kindness towards all human and animal beings (Incidently like brahmanical deities like Śīva, Viṣṇu, Durgā and others the Tīrthaṅkaras are never shown as riding upon the animals as *vāhanas* since it will amount to *hiṁsā* against animals. In the context of Tīrthaṅkaras animals and birds are merely shown as their cognizances on the pedestals but never as the *vāhanas*- such as Ṛṣabhanātha, Ajitanātha, Sambhavanātha, Mahāvīra have respectively the bull, elephant, horse and lion cognizances. Further respecting others' view points (anekāntavāda) was another feature. These were achieved through deep austerity, renunciation and *aparigraha* for selfrealization (*ātmajñāna, kevala-jñāna* or *ātmasākṣhātkāra*) to become *svastha* (to know one's self / soul).[1]

Most of these ethical concepts are reflected in some or the other forms in Jaina art. Jaina art not only reflects the fine taste for beauty but also heightens the spirit of virtuous moral qualities in man and makes him more worthy as a member of human society, having respect for the personality of others. Of what value is that piece of art, which does not conveys some ethical message and enables men and women to live a nobler life with harmony to achieve *ānanda*? In short, Jaina examples of art aim at elevating our spirit, inspiring to observe rules of value based conduct laid down in Jainism.

Jaina art so far as the temples and Jina images as well as the images of Bharata and Bāhubalī are concerned, give a value based social message of renunciation, non-acquisition and non-violence. A Jaina temple showing the assimilation of the Jina and other divine figures including Brahmanical deities like Viṣṇu, Śīva, Lakṣmī-Nārāyaṇa, Balarāma-Revatī, Kāma-Rati, Aṣṭadikpālas, Navagrahas on the walls, *śikhara* and other parts was the symbol of socio-religious harmony to give the message of *ānanda, anekāntavāda* and respect for other faith-*dharma*. The sanctum sanctorum and the main icon

installed in it stand for the highest peace, devotion and spirituality. The rendering of the Brahmanical deities on Jaina temples at Deogarh, Khajurāho (Pārśvanātha temple), Kumbhāriyā, Delvāḍā (Kṛṣṇa and Kṛṣṇalīlā, Kṛṣṇa playing holī, Narasiṁha) is indicative of socio-religious interaction and harmony, which could be manifested in art only after an open and broader outlook.

The images of the Jaina Tīrthaṅkaras and also those of Bāhubalī and Bharata (not as cakravartin but as muni only) highlight certain moral, social and religious values, which are essential for becoming a real human being to render the service to humanity to have experience of *ānanda*. Through the postures (dhyāna and kāyotsarga-mudrās) of Tīrthaṅkaras, Bharata muni and Bāhubalī and their lives and iconographic features, such as *upsargas* (inflictions) caused to Pārśvanātha and Mahāvīra during their meditation, strict adherence to *ahiṁsā* by 16th Tīrthaṅkara Śāntinātha, renunciation of Neminātha (due to the imminent slaughter of animals on the occasion of his marriage feast, **Fig. 1**), entwining creepers, snakes and lizards with Bāhubalī (**Fig. 2**) and the objects like nine-jewels (navanidhī) and fourteen-treasures (14 ratnas) associated with Bharata as *cakravartin* being relinquished by him at the time of *dīkṣā* (initiation) and his cosequent *sādhanā* as *muni*, the core idea of moral, social values of truth, non-violence, non-possessiveness or *tyāga* have been exemplified visually. These forms serve as future social models for humanity. Therefore Jaina art has been the vehicle of social and individual code of conduct, besides their aesthetic and religious value.

The 16th Tīrthaṅkara Śāntinātha in his previous life as king Megharatha was example of *ahiṁsā* and *satya* (commitment) who was put to test by the god Surūpa.[2] A falcon was chasing a pigeon. The god Surūpa entered into the body of pigeon and flew to come to Megharatha asking to save him from the falcon and was assured of his life by the king. The falcon also came and said to Megharatha that he was extremely hungry and he should be given pigeon to contain his hunger. Megharatha asked to take something else but to leave pigeon. On insistence to have either the pigeon or the

flesh equal to the weight of pigeon's flesh. On this Megharatha offered his own flesh to falcon .When pigeon was put on balance the god in him started increasing his weight and went to the extent that Megharatha himself sat on the balance to offer his entire body. On this point of commitment and adherence to *ahiṁsā* the god Surūpa in pigeon appeared and praised the king. In the depiction in the ceiling of the Śāntināṭha temple of Kumbhāriyā (Gujarat, 11th century CE) a balance is shown on one side of which sits pigeon and on the other side of it sits Megharatha (**Fig. 3**). Here comes the experience of *ānanda* for the onlooker inherent in the episode and depicted in art.

Jaina temples are found in plenty in all the regions. The patterns of temples are various and the artistic details are different, but their influence on any one who goes to the Jaina temple with devotion is more or less the same. Some of them at- Khajuraho, Shravanabelgola, Ellora, Jinanathapur, Halebi, Deogarh, Delvara, and Ranakpur etc. are rich examples of architecture. Their ethical influence on us is one of serenity, detachment and composite and assimilative character. The Jaina temple is intended to be a place for quiet meditation on the qualities of Jinas and one's pursuit of the same in his / her own life. The interrelatedness of divine, human and animal beings and the vegetation world are all integrated as a unit for an experience of *ānanda.*

References:

1. Gītā Chapter 14, verse 24
2. Triśaṣṭiśalākāpuruṣa-caritra, vol.3, Gaekwad Oriental Series 108, Baroda, pp.291-293

Bibliography :

1. Dayanand Bhargava, *Jaina Ethics*, Motilal Banarasi Das, New Delhi, 1968
2. A. Ghosh (Editor), *Jaina Art and Architecture, Vol. III,* Bharatiya Jnanapith, New Delhi, 1974-75
3. Maruti Nandan Pd. Tiwari & Shanti Swaroop Sinha, *Jaina Art and Aesthetics,* Aryan Books International, New Delhi, 2011

4. K.C.Sogani, *Ethical Doctrines of Jainas*, Lalchand Hirachand Doshi, Sholapur, 1967.

5. Sagarmal Jain, *Jaina Ācāra Mīmāṁsā*, Prachya Vidyapeeth, Shajapur (MP), 2014-15

6. Acharya Devendra Muni, Jaina Ācāra: Siddhānta aur Svarūpa, Shri Taraka Guru Jaina Granthalaya, Udaipur, 1995

7. Padmanabh Jaini, The Jaina Path of Purification, University of California Press, Berkekey, 1979

8. Kamta Prasad Jain, Jaina Code and Jainism, *Shri Mahavira Commemoration Volume, Vol. I*, Agara, pp. 267-71

Details of Four Photographs to be Published

1. Nemināth returning without getting married knowing about slaughter of animals for his marriage feast, Śāntināth temple, Kumbhariya, 11th century CE

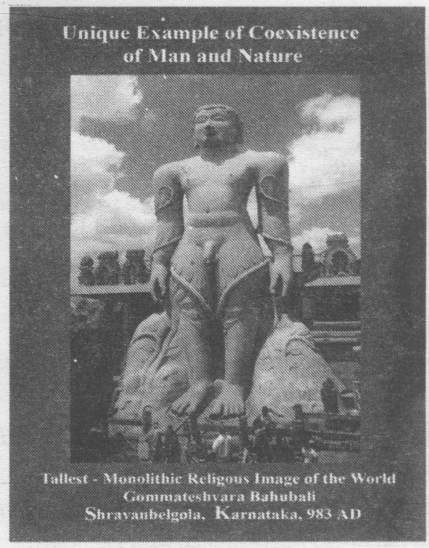

2. Tallest Monolithic Image of Gommaṭeśvara Bāhubalī (epitome of *ahiṃsā*, renunciation, *sādhanā* of Jainism for Peace and self-contained *ānanda*), Shravanabelgola (Karnataka), 983 CE.

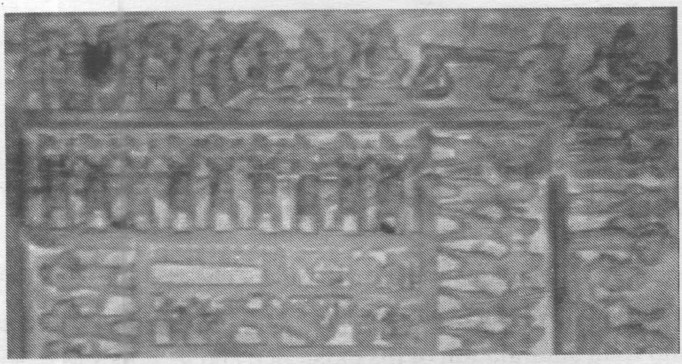

3. Tīrthaṅkara Śāntinātha in previous existence as king Megharatha who saved the life of a pigeon, Śāntinātha Temple, Kumbhariya (Gujarat) 11th century CE.

****

SALLEKHANĀ : A WAY OF FACING DEATH ARTISTICALLY

Dr. Rahul Kumar Singh

Introduction

Although every human being conscious of the fact that death is the ultimate end of every life, yet his conscious refers to accept it as the total and final annihilation of his existence and he hopes to live even after the cessation of his life in some form or other. According to a widely prevalent belief in the Indian thought, the nature of death also determines the fate of the soul after death. One who casts away his bodily frame in the state of yogic deep meditation attains salvation. Dying in the holy place also leads to liberation. Jaina tradition teaches not only the art of living but also the art of dying. When a layman, or an ascetic, is faced with death under certain circumstances, the vow of *sallekhanā* is prescribed.

It is a vow to be adopted for seeking liberation of the soul from the body as a religious duty. The basic concept underlying the vow is that man, who is master of his own destiny, should face death to prevent influx of new *karmas*. In my view, the observance of this vow is a conscious and well planed penance for self realization. It is preparedness to be fearless in the face of impending death. It is death through *samādhi*. In this context *Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra* clearly says that as the mental attitude prevailing at the last movement of life considerably affects the future destiny of the soul, there can be no doubting the fact that those who give up the body according to the method of *sallekhanā* attain to the very best conditions of life in the hereafter.[1]

Meaning and definition of Sallekhanā

Sallekhanā, *Samādhimaraṇa*, *Ārādhanā*, *Paṇḍitamaraṇa* etc. are synonymous which indicate that one should renounce the worldly attachment and strive to achieve liberation from all *karmas* through

meditation and fasting. *Samādhimaraṇa* is very much common word. It is an art of death. That is the ritual death, the death accepted through sensual restraint, right penance, right faith, right knowledge and right conduct. The world *sallehaṇā* is a Prakrit word equivalent to Sanskrit *sallekhanā*. The *maraṇa* or death by observing vow of *sallekhanā* is technically described as *samādhimaraṇa*, death while in meditation.

Sallekhanā is a technical term which means a praiseworthy process of emasculating the body and passions. Its main objective is to make thin the passions that disturb equanimous state of the soul. In the course of defining the *sallekhanā* Ācārya Samantabhadra writes - *upasarge durbhikṣe jarasi rujāyāṃ ca nihpratikāre/ dharmāya tanuvimocanāmāhuḥ sallekhanāmāryāḥ//*[2] - "*Sallekhanā* is giving up the body by fasting when there is an unavoidable calamity or distress or old age and incurable disease, in order to observe the discipline of religion." Generally the house holder is expected to observe it on the end of life- *māraṇāntakī sallekhanāṃ joṣitā/*[3]

According to Śivārya *sallekhanā* means simultaneously thinning out both the inner passions and outer body. He states- *sallehaṇā ya duvihā abbhantariyā ya bāhirā ceva, abbhantarā kasāyesu bāhirā hodi hu sarīre/*[4]

This shows that *sallekhanā* has to aspects - *kaṣāya sallekhanā* and *kāya sallekhanā*. *Kaṣāya sallekhanā* means mental disciplines which consist in the control of passions and attainment of equanimity of the mind. *Kāya sallekhanā* means the actual practice of fasting which gradually leads a vowed persons to death. Of these two aspects, the first is a prerequisite for the second.[5] It means that *sallekhanā* does not consist merely of fasting; it aims at perfect equanimity of the mind. If the mind is troubled by any passions or thought, simply fasting will be of no use. It is therefore necessary that as a preparatory measure for the performance of *sallekhanā*, a person should conquer all the emotions, like fear, anger, grief and so on, and should over come love, attachment, hatred etc. Thus Ācārya Samantabhadra says as follows: *śokaṃ bhayamavasādaṃ kleśaṃ*

kāluṣyamaratimapi hitvā/ sattvotsāhamudīrya ca manaḥ prasādhyaṃ śrutairamṛtaiḥ//[6] Means banishing grief, fear, anguish, attachment, wickedness and hatred, and bringing into manifestations of energy and enthusiasm, one should extinguish the fire of passions with the enactor of the word of scripture.

Types of Sallekhanā

After describing seventeen verities of death, Śivārya abridges it to five types as follows: *paṇḍidapaṇḍidamaraṇaṃ paṇḍidayaṃ bālaṃpaṇḍidaṃ ceva bālamaraṇaṃ cauttthaṃ pañcamayaṃ bālābālaṃ ca/*[7] Out of these the first three are *praśasta* and rest are *apraśasta.* The *Ācāraṅga* also describes another three types of *sallekhanā* which are-*bhaktapratyākhyāna, iṅginī maraṇa* and *pādapopagamana.* These three are described under *paṇḍita-maraṇa* in *Bhagavatī Ārādhanā.*

Circumstances and Procedure for adopting Sallekhanā

Sallekhanā is to be practiced under two circumstances- in cases of emergencies and at the end of regular religious practices. First, a Jaina is advised to cast off his body by fasting unto death, in cases of emergencies i.e. when it is not possible for him to lead a pious life and perform his duties, for example, during the time of terrible famine foreign domination, spiritual calamity etc. a person falling the victim of some incurable disease or becoming too old to perform his regular duties is also advised to perform the vow. Among who falls ill and is incapable of performing his vows and leading a disciplined life may also take resort to *sallekhanā* in all cases. However, a person willing to perform *sallekhanā* must take the permission of his teacher. The teacher is also advised to give him permission for this practice only after examining his capacity to do so. Secondly, *sallekhanā* is to be perform as the last phase of a regular religious career. Both the householders and the monks may perform this vow. A householder is advised to perform eleven *pratimās.* At the last stage of this vow of *pratimās,* he practically leads and ascetic life. At the end of this period, he is to give up food and drink and wait for death. A Jaina monk is required to prepare

himself to pursue a course of gradual fasting which meant last for years together. A monk falling ill and incapable of performing his duties of self-disciple may, however, take recourse to *sallekhanā* without any preliminary preparation.

Sallekhanā is generally to be performed in a gradual process. First, a person practicing *sallekhanā* is to abstain from taking solid food and to live only on liquid food like milk fruit-juice etc. Then he is to live on warm water only. At last, he is to give up warm water also and is to wait for death. During this last stage, he is to go on reciting hymns only. Acārya Samantabhadra says, "leaving the food, one should increase gradually the greasy drinks, and leaving the drinks like milk etc, he should increase the *chācha* and hot water in his intake. And after, he should leave even the hot drinks and observe fasting according to his ability and should leave his body contemplating on *pañcanamaskāra mantra*."[8]

Apparently, this process seems to be a process of inviting death but it is not suicide, though it is true that person accepting this vow is all the time trying to invite death gradually. The main objective of this vow is to get conquest over passions to remove attachment, aversion etc.

The Ideal Place to perform Sallekhanā

So for as the venue is considered *Bhagavatī Ārādhanā* has clearly mentioned- *arihanta siddha sāgarūpaṃ sarama khīrapuppha phalabharīdaṃ, ujjhāṇa bhavaṇa toraṇa pāsadaṃ ṇāga jakkha gharaṃ*/[9] The ideal place for practicing *sallekhanā* are *jinālaya* or temple premises, *siddha-kṣetra*, on the top of similar hills of liberated souls and near tanks containing lotus (lotus ponds). However willing aspirants can observe the vow in their houses or temple premises, or on the top of a hill.

Spiritual Activities undertaken during the Sallekhanā

An aspirant resolving to undergo *sallekhanā* knows it well that he has eaten a lot of food to sustain his body during this life and

voluntarily gives up the food. It is very essential for a man who drives a car to have knowledge of giving break to the car. If he learns merely driving but never learns to give a break, this driving will be very harmful for the driver if he meets with a severe accident, likewise the person having the knowledge of how to lead an artistic life must have the knowledge of giving up the body artistically, happily through the gradual process of *sallekhanā.*

The mental attitude of the person who has adopted the vow of *sallekhanā* should be pure in thoughts and must have severed all connections, having forgiven everybody and asked everybody's pardon in sweet words. A person with right faith and right knowledge would always believe that being born as a human being is itself a rare chance for annihilation of all *karmas* and that is increased attachments to relatives and friends, business and occupations, and accumulation of property of any kind would only entangle the soul with new *karmas* of different kinds of varying intensity. These ties are all due to the *karmas.* Every kind of relationship and attachment perishes with the body. Such thought will create a sense of detachment and free the mind from the passions of every kind like love, anger, pride, deceit and greed. The person concerned should make a frank and full confession of his actions and thoughts before his preceptor. He should discuss with his spiritual *guru* whatever sins he might have committed by himself and by others consent till the date without hesitation or sense of secrecy.

Five Aticāras (transgressions) of Sallekhanā

The person who is trying to keep *Sallekhanā,* should also be careful that the following mentioned faults should not occur in his mind at all. *Aticāra* or transgression means committing any blunder or mistake due to carelessness or ignorance even after observing reasonable vigilance during *sallekhanā.* A *sādhaka* should try to protect himself from these blemishes otherwise may again bind new more *karmas.* In this regard Ācārya Samantabhadra says-

jīvitamaraṇāśaṃsebhayamitrasmṛtinidānanāmānaḥ, sallekhanā-tichāraḥ pañca jinendraiḥ samādiṣṭāḥ/ [10]

Entertaining a desire to live, wishing for [speedy] death, displaying fear, desiring to see or to remember friends, looking forward to future sense-enjoyment [in the life to come]-these have been described as the transgressions of *sallekhanā* by the Jinendra (Lord of Conquerors).

Some thinkers advocate these transgressions with different names[11] which are:

1. *Ihalokāśaṃsā prayoga-* undertaken with the desire or motive to acquire wealth, family, etc., i.e. pleasure of this world.

2. *Paralokāśaṃsā prayoga-* here the motive is to acquire pleasures of heaven etc. in the next birth.

3. *Jīvitāśaṃsā prayoga-* undertaken with the desire for life.

4. *Maraṇāśaṃsā prayoga-* to desire instant death because of unbearable pain or miseries.

5. *Kāmabhogāśaṃsā prayoga-* undertaken for acquiring desired but unfulfilled sexual and other worldly pleasure.

Thus *sallekhanā* is a step towards self realization. It is to free oneself from the bonds of body and to attain self absorption, the perfection of the soul by the soul.

It is clear that intention behind this vow is not to waste time in fruitless activities for the sake of prolonging the existence of the body, which has to be given up sooner or later. Hence attachment towards it is given up, with the result that an individual performing *sallekhanā* meets the inevitable death as a conqueror. Not surprisingly, it is said to be a spiritual welcome to death. This is not yielding to death but a way of meeting the challenge of death adequately. It has a religious cause and spiritual values.

References:

1. *antakriyādhikaraṇaṃ tapaḥphalaṃ sakala darśinaḥ stuvate/ yasmādyāvadvibhavaṃ samādhimaraṇe prayatitavyam// Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra*, (RKS) 123

2. *RKS*, 122
3. *Tattvārthasūtra*, 7/22
4. *Bhagavatī Ārādhanā*, 208
5. *Abhidhāna Rājendra Vol. VII*, P.214
6. *Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra*, 126
7. *Bhagavatī Ārādhanā*, 26
8. *āhāraṃ parihāpya kramaśaḥ snigdhaṃ vivardhayetpānam/ snigdhaṃ ca hāpayitvā kharapānaṃ pūrayetkramaśaḥ// harapānahāpanāmapi kṛtvā kṛtvopavāsamapi śaktyā/ pañcanamaskāramanāstanuṃ tyajetsarvayatnena//RKS*, 127-28
9. *Bhagavatī Ārādhanā*, 560
10. *Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra*, 129
11. *Āvaśyaka-sūtra, adhyayana 5, Hāribhadrī vṛtti*, p. 838, quoted from *Ācāraṅga-sūtra*, Madhukar Muni, Sri APS, Beawar, Rajasthan., 1980, P. 295

****

CONCEPT OF NON-VIOLENCE OF SIX BODIED JĪVAS IN JAINISM

Dr. Navin Kumar Srivastav

Today, all individuals, group and nations are facing problems in one form or the other. Some of these problems are psychological tension arising from economic inquiry and consumer's culture, social problems and disintegration of society due to conflicts of ideologies and faiths, political problems such as arms race, war and terrorism and the problem of human survival linked to production and ecological balance. The world is torn by tension, strife, crime and religious conflict. People are suffering from uncertainty about future and lack of peace in their mind. Many individuals are trying to find solution of their problems. Religion emphasizes that the peace of mind comes from tolerance and contentment. Moral and spiritual values including virtues such as non-violence and truth can lead to genuine peace. However to a large extent, these virtues are ignored on account of the glitter of materialism fuelled by greed and desire to get ahead of others. Nevertheless, most of the people on earth have no peace of mind. In spiritual terms, that we are living for satisfaction of our animal's instinct only.

Spread of violence has become a global issue before the humanity. It is the root cause behind prevailing unrest and problems in worldwide society. That is why Jainism considers non-violence and truth as fundamental values for maintaining peace in the society. Lord Mahāvīra was an apostle of non-violence. He was the first person who was convinced that not only the mankind but all the moving and non-moving living beings should be protected and should not be harmed because just like any human being it does not want any harm to be done to it. Mahāvīra is the first person who endeavored to mould his life in such a way that he may not be willingly harmful to anyone.

Jainism is known as an ascetic religion, which generally emphasizes non-violence (ahiṁsā), truth (satya), non-stealing (acaurya or

asteya), celibacy (brahmcarya), and non-possession (aparigraha) as its fundamentals. In these fundamentals there is hidden theory of non-violence towards all living beings. The Tīrthaṅkaras stated that life is not only in living beings and plants but it is also in earth-bodied, water-bodied, fire-bodied, air bodied, plant bodied and mobile bodied *jīvas.*[1] We cannot imagine our life without these living bodies. These are the source of our life. In Hindu religion earth, fire, air, water, etc. are worshipped as God. Jainism does not consider these elements as God but regards them as life form. It is evident from the Jaina canonical texts.

Ahiṁsā (Non-violence) is a term meaning by *'not to injure'*. The word *hiṃsā* is derived from the Sanskrit root *'hiṃs'* which connotes the meaning to injure or to harm. *Ahiṁsā* applies to all living and non-living beings including animals, plants etc. *Ahiṁsā* has been one of the cardinal virtues and an important tenet of major Indian religions (Jainism, Buddhism and Hinduism). It is a multidimensional concept, inspired by the premise that all living beings have the spark of the divine spiritual energy; to hurt another being is to hurt one. *Ahiṃsā* has also been related to the notion that any violence has its karmic çonsequences. While ancient scholars of Hinduism pioneered and perfected the principles of *ahiṁsā*, this very concept reached to an extraordinary status in the ethical philosophy of Jainism. Most popularly, Mahatma Gandhi strongly believed in the principle of *ahiṁsā.*

Ahīṁsā has been treated as the first of the five *mahāvratas*, (great vows) prescribed by Jaina religion. *Ratnakaraṇḍaśrāvakācāra* describes *ahiṃsā-mahāvrata* as refraining from committing violence from all sorts of injuries to living beings. One should abstaine from committing five types of sin by all the three ways- *kṛta, kārita* and *anumodita,* with mind, speech and body.[2] In other words *ahiṁsā-mahāvrata* involves the avoidance of the *hiṃsā*, i.e., injury to sentient beings in every possible manner. The *hiṃsā* can be committed by three kinds of *Yoga*, i.e., modes or means viz, mind, speech and body. Injurious activity can be committed[3]:

a. mentally, i.e., by mind, in thought,

b. orally, i.e., by speech and

c. physically, i.e., by body, by action.

Eight Reasons for Violence:

Ācārāṅga sūtra, the earliest among the twelve primary canons of Jains gives eight reasons of violence[4]:

a. **In order to protect his life:** Resorting to various types of treatments and medicines prepared through violence for one's health and long life.

b. **In order to gain prestige:** Accumulating wealth by doing business day and night to gain status.

c. **In order to gain success:** Making efforts to win competitions like wrestling as sports persons do by participating in various competitions to earn praise, fame and prize.

d. **In order to gain respect and veneration**: Participating in war, as kings do for territorial's gains.

e. **Birth**: Indulging in elaborate festivities to celebrate birthday or other such occasions.

f. **Death**: Indulging in various rites and rituals connected with death.

g. **In order to get emancipated**: Indulging in religious rituals, like animal sacrifice, to be free from troubles, fear and other miseries.

h. **In order to remove miseries**: Indulging in various violent experiments on mice, monkeys and other being to find cures for ailments.

Absolute faith in *ahiṃsā* or non-violence received the highest place in Jainism. It was maintained that the life of every being is sacred. The smallest of small creature also possessed life, as the human being. It was therefore a supreme sin that man should destroy the life

of other creatures. As a human being does not want to be injured or killed, in the same way no creature wants to be injured or killed, hence we should protect and preserve the life of every living creature. To Mahāvīra, the practice of *ahiṃsā* was the highest duty of mankind.

Though literal meaning of *ahiṃsā* (not to injure) is quite clear but it goes for beyond its literal meaning. Non-violence has its own history in India. It is not simply a word but centuries woven together. Non-violence for Jains has subtler and deeper meaning that what is construed. For Jains, non-violence was an integral part of daily routine. According to Jainism, violence is not simply injuring living being but even intention to kill, to destroy and to hurt amounts to mean violence. Even being intolerant is also a kind of violence. Similarly, talking without listening to what others are saying is also violence.

Jaina Āgamas (canons) preaches to control the violence and preserve the human being and celestial being. The very first lesson of *Ācārāṅga Sūtra,* is *Śastra-parijñā* (the truth about weapons). Here the meaning of *Śastra* is the equipment or means of violence.[5] Also the means or instrument of violence are called weapons (śastra). A thing capable of destroying another is a weapon for that[6]. The meaning of *Śastra parījñā* is- to aquire knowlge of the form and instrument of violence, to understand about its bitter fruits and consequently abandon the same. The ignorance of violence is non-violence. Soul (ātmā) is the base of non-violence (ahiṃsā).

Non-violence of Six Bodied Jīvas: In the metaphysical facbric of Jainism, there are six bodied *jīvas viz. Pṛthvīkāyika* (earth bodied), *Apakāyika* (water bodied), *Agnikāyika* (fire bodied), *Vanaspatikāyika* (plant bodied), *Vāyukāya* (air bodied) and *traskāyika* (mobile bodied).

Pṛthvikāya or Earth Bodied Jīvas: *Ācārāṅga sūtra,* maintains that *pṛthvīkāya* or earth bodied *jīvas* are dependent on different bodied i.e., they are individual bodied.[7] Lord Mahāvīra revealing the truth about *pṛthvīkāya* or earth bodied beings says, 'When a person, for the sake of his life, praise, prestige, worship, birth, death and

liberation and removal of sorrow, acts sinfully, causes other to act sinfully or approves of others acting sinfully there is violence against earth bodied beings. This detrimental act is caused by the aspirant's ignorance (meaning that he always remains deprived of awareness of right knowledge, perception or faith and conduct).[8] The aspirant being understood properly the result of the violence, treads on the path of restraints carefully.

Jalakāya or Water Bodied Jīvas: Acceptance of water as a living entity or a life-form is an original Jaina-concept. Bhagvāna Mahāvīra's other contemporary philosophers did not accept the water as a life-form; they only accepted the existence of their beings thriving in water. That is why the two facts categorically clarified-1. water is a living-being and 2. Numerous large and small life forms thrive in water. Water is of three types-1. *sacitta* or with life, 2. *acitta* or without life and 3. mixed or mixture of *sacitta* and *acitta* water. Water with life turns into violence of water-bodied *jīvas* with the use of weapons or antithetical things. The weapons against water-bodied beings are said to be as follows[9]- *utsecana*, *galana*, *dhovana*, *svakāya* weapon, *parakāya* weapon, *tadubhaya* weapon and *bhāva* weapon. *Ācārāṅga Sūtra* clearly mentions about the non-violence of water bodied biengs. It says that the mendicants who indulge in harming water-bodied beings cannot condone or renounce the sin of violence. He who does not use weapons on water-bodied beings is free of these sins (the blemish of harming and killing living beings).[10] Therefore, knowing about this (the unexpressed sufferings of the water-bodied beings) one (wise man) should not harm water-bodied being himself, neither make others do so, nor approve of others doing so. He who has properly understood the violence related to the water-bodied beings is a *parijñāta-karma-muni* (a discerning sage or an ascetic who with a discerning attitude abandons violence).[11]

Agnikāya or Fire Bodied Jīvas: In the religious tradition of those days water and fire were worshipped as gods but no thought was given to acts of violence against them. Considering water to be the means of purification and penance using five types of fire that of

super natural attainments, these two were in popular use. Lord Mahāvīra, from his *ahiṁsā* viewpoint, accepted them as living things and proscribed violence against them. Ācārya Śīlāṅka says- fire has the attributes like light and heat and it cannot survive in absence of air. It grows by consuming food like oil and wood and fritters away when deprived of such food. All this is clear evidence of its being a living thing.[12] Describing the non-violence against fire bodied beings Mahāvīra says-those who uses weapons on fire bodied beings is not free of sins (the blemish of harming and killing living beings). He who does not use weapons on fire bodied is free of these sins. Therefore, knowing about this (the unexpressed sufferings of the beings) one (wise man) should not employ fire-weapon himself, neither make others do not do so, nor approve of others doing so. And lastly he who has properly understood the violence related to fire is a *parijñāta-karma-muni* (a discerning sage or an ascetic who with a disserting attitude abandons violence).[13]

Vanaspatikāya or Plant Bodied Jīvas: Almost every school of Indian philosophy has accepted plants as a life-form. But as it has a very low level of consciousness, not much thought has been given to it by philosophers. However, in Jaina philosophy the subject of plant life has been widely dealt with in minute detail. Like earth-bodied beings, plant-bodied beings also have inarticulate consciousness. The feeling of pain is also inexpressible. However, there are marked and evident similarities in the development, growth and termination of humans and plants. For example[14]:

1. After being born, human body slowly develops; plants follow the same pattern.
2. Human body requires food and water for growth; plants also need light, water, fertilizer etc.
3. At a certain age human body becomes fully developed; so does a plant.
4. In old age human body becomes week and emaciate; so does a plant and it is evident in the form of withered and pale branches and leaves.

5. The human body is wounded when it is hit; so is a plant.
6. At the end of their life-span plants also die and fall just like human.

Above similarities show that there is a life in plants and we should minimize the violence of it. About plant bodied beings, Lord Mahāvīra says that, 'he who uses weapons on plant-bodied beings is not free of these sins (the blemish of harming and killing living beings). He who does not use weapons on plant-bodied beings is free of these sins. Therefore, knowing about this (the unexpressed suffering of beings) one (wise man) should not harm plant-bodied being himself, neither make other do so, nor approve of other doing so.' In *Ācārāṅga Sūtra,* Mahāvīra says that 'he who has properly understood the violence related to plants is *parijñāta-karmā muni* (a discerning sage or an ascetic who with a discerning attitude abandons violence).[15]

Vāyukāya or Air Bodied Jīvas: To refrain from the violence of air-bodied beings Mahāvīra expresses, 'a disciplined person become capable of abandoning violence against air-bodied beings, because he sees terror in violence and considers it harmful. He who knows the inner self (spirituality) knows the outer (world) also. He who knows the outer (world) knows the inner self (spirituality) also. Explore this comparison with self, and ponder over it. Those (ascetic) who have found peace (pacified their passion) in it (Jaina order) and are filled with clemency, do not wish to live by killing air-bodied beings.[16]

Trasakāya or Mobile Bodied Jīvas: According to Jaina Āgamas the worldly beings are divided into two broad classes-*sthāvara* or immobile and *trasa* or mobile. Those who are capable of activities like stirring and moving in order to save themselves from agony or to enjoy pleasure are mobile beings. Its opposite or incapable of movement are *sthāvara* or immobile beings. Beings having two to five sense organs are mobile. Those who have only the sense of touch are immobile beings, On the basis of their birth, the mobile-

bodied beings are divided into eight types[17] -1. ***Aṇḍaja***-born from an egg, as peacock etc., 2. ***Potaja***-those born as fully formed infants are called *potaja*, as elephant etc., 3. ***Jarāyuja***-those born with placenta are called *Jarāyuja*, as cow etc., 4. ***Rasaja***-born out of liquid, as bacteria etc., 5. ***Saṁsvedaja***-born out of sweat, as are louse, 6.***Sammūrchim***-of asexual origin or born spontaneously in various atmospheric combination, as are flies, mosquitos etc., 7. ***Udbhija***-those that burst out of the earth when born and 8. ***Aupapātika***-born suddenly and fully formed instantaneously; like the hellish beings in hell-pot and gods in bed of flowers. These are the kind of *trasa* or mobile bodied beings. To refrain from the violence of mobile bodied *jīvas,* Mahāvīra says, 'he who uses weapons on mobile bodied beings is not free of sins (the blemish of harming and killing living beings)'. Again lord Mahāvīra says-'therefore knowing about this (the unexpressed suffering of beings) one (wise man) should not harm mobile-bodied being himself, neither make others do so, nor approve of other doing so and he who has properly understood the violence related to mobile-bodied being is a *parijñāta-karma-muni* (a discerning sage or an ascetic who with a discerning attitude abandons violence'.[18]

To conclude it can be said that the concept of non-violence of six bodied *jīvas* in Jainism is very affirmative. No other concept is nearest to this concept. Mahatma Gandhi clearly stated about the non-violence of Jainism in his own words "No religion of the world has explained the principle of non-violence so deeply and systematically, with its applicability in life as in Jainism.....Lord Mahāvīra is sure to be respected as the greatest authority on non-violence" and again "I say with conviction that the doctrine for which the name of Lord Mahāvīra is glorified nowadays, is the doctrine of *ahiṁsā*. If anyone has practiced to the fullest extent and has propagated most the doctrine of *ahiṁsā*, it was Lord Mahāvīra"[19]

References:

1. *taṁ pariṇṇāya mehāvī ṇeva sayaṁ chhajjīva, nikāya-satthaṁ samārambhejjā ṇevṇṇehiṁ chhajjiva-ṇikāya-satthaṁ samārambhhevajjā*

ṇevaṇṇe chajjīva-ṇikāya-sattharh samāraṁbhante samaṇujāṇejjā. Āyāro, Ed. by Ācārya Tulsi- 1/176, Jain Vishwa Bharti, Ladnun, (Raj.)

2. *pañcānāṁ pāpānāṁ hiṃsādināṃ manovacaḥ kāyai kṛtakāritānumodaistyāgastu mahāvrataṃ mahatātaṃ / Ratnakaraṇḍaśrāvakācāra,* 4/72, Hem Chand Jain, 'Hem,' Pujya Shree Kanjiswami Smarak Trust, Deolali (Nasik)

3. Vilas Sangave, *The Jaina Path of Ahiṃsā,* Bhagawan Mahavira Research Centre, Solapur, Maharashtra, 1991, p. 24

4. *Ācārāṅga Sūtra,* 1/1/7, ed. Amar Muni, Padma Prakashan, New Delhi, 1999

5. *jaṁ jassa viṇāsakāraṇaṁ taṁ tassa satthaṇ bhannti- Niśīthacūrṇi,* 301, *Abhidhāna Rājendra Kośa,* Abhidhan Rajendra Karyalaya, Ratalam, 1910,Vol.-7, p.331

6. *Abhidhāna Rajendra,* part, 7, p. 331

7. *santi pāṇā puḍho siā, Ācārāṅgasūtra,*1/2/11, Ed. Madukarmuni, Agama Prakshana Samiti, Vyavar (Raj.), 1980

8. *Ācāraṅga Sūtra,* 1/2/13, op. chit, New Delhi

9. *Ācāraṅga Sūtra,* p.11, explanation of 1/3/27, New Delhi

10. Ibid, 1/3/29-30

11. Ibid, 1/3/31-32

12. *Bhagavatī Sūtra,* 16/1/5

13. *Ācārāṅga Sūtra, Śastra Parijñā,* 1/4/39-40, op. chit, New Delhi

14. Ibid,1/5/46

15. Ibid, 1/5/47-49

16. Ibid, 1/7/57

17. Ibid, 1/6/50,

18. Ibid, 1/6/54-56,

19. http://jainismus.hubpages.com/hub/Gandhi-and-Jainism

****

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

Demise of Shri Nripraj Jain: A Great loss to the Jaina Community

Shri Nripraj Jain passed away on 14th October, 2015 after a short illness in Mumbai. He was a person of rare caliber, a personality with literary sensitivity, and a social guide. Shri Nripraj Jain was born in the family of Lala Jagannath Ji Jain of Amritsar. He was grandson of Shri Ratanchand Jain and eldest son of Shri Shadilal Ji Jain, former Mayor, Mumbai. After his preliminary education, he was shifted to Delhi and then after Mumbai. In his noble guidance his family got great success in business community by establishing the companies like Lions Pencils and Chetans PVT. Ltd. He was Chairman and Managing Director of Lion Pencils and MD of Chatons Pvt. Ltd., also he was the president of AIMO-All India Manufacturers Association. Like his father Shri Shadilal Jain, he was also a great social worker and philanthropist.

He made a leading role in the unity of Jain Society particularly in Punjab. He was President of Sthanakavasi Jain Conference for the years. He was also Vice President and President of Bharat Jain Mahamandal for more than one term.

His father Shri Shadilal Jain inspired him to work for Khar Jaina Sangh, Mumbai and Parshwanath Vidyapeeth. He contributed a lot to these two Institutions. He was President of the Managing Committee of Parshwanath Vidyapeeth from1996 to 2001. Parshwanath Vidyapeeth celebrated its Diamond Jubilee under his able leadership in 1998. Under his leadership Vidyapeeth witnessed all around progress. Parshwanath Vidyapeeth family pays tribute to this great Jain personality. For Parshwanath Vidyapeeth, Shri Nripraj Jain was an inspiration. Today when he is no more, his sweet memories are with us.

Hearing the sad news of demise of Shri Nripraj Jain every member of Parshwanath Vidyapeeth was stunned and grieved. A condolence meeting was called and Institute was closed after paying him homage for the day.

शोध-पत्र वाचन

१. डॉ० राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, ने 'कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिविम्बित जीवन-दृष्टि' शीर्षक का शोध पत्र भोगीलाल लहेरचन्द्र इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, नई दिल्ली द्वारा १३-१४ फरवरी, २०१६ को आयोजित *"The Nature of life and Death in different Schools of Thought"* विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत किया। यह संगोष्ठी भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रायोजित थी।

२. इण्टरनेशनल स्कूल फार जैन स्टडीज, दिल्ली, और नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी, दिल्ली लोयला मेरीमाउण्ट यूनिवर्सिटी लास एंजिल्स, मद्रास विश्वविद्यालय, चेन्नई, एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में २६-२७ फरवरी २०१६ को आयोजित *"Sallekhanā / Santhārā / Samādhimaraṇa / Prāyopaveśa"* विषयक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, संयुक्त निदेशक पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने *"Voluntary Death in non-Jaina Traditions : with special reference to Sallekhanā"* शीर्षक से तथा डॉ० राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने *"Sallekhanā : A way of Facing Death Artistically"* शीर्षक से अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये। इण्टरनेशलन स्कूल ऑफ जैन स्टडीज के निदेशक डॉ० शुगनचन्द जैन के निर्देशन में आयोजित इस इण्टरनेशनल सेमिनार में देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भाग लिया।

संलेखना पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रो० रामजी सिंह के साथ डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० राहुल कुमार सिंह एवं डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव

३. पार्श्वनाथ मंदिर, भेलूपुर में उर्जयन्त मुनिजी के सान्निध्य में दिगम्बर जैन समाज, भेलूपुर द्वारा "जैनधर्म में श्रावक एवं श्राविका चर्या' विषयक एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में डॉ० ओम प्रकाश सिंह, पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये।

आचार्य श्री कीर्तियश सूरिश्वर जी म०सा० का पार्श्वनाथ विद्यापीठ आगमन

दिनांक १९ फरवरी, २०१६ को आचार्य श्री कीर्तियश सूरिश्वर जी म०सा० ने अपनी सम्मेद शिखर यात्रा के दौरान पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रांगण में पदार्पण किया। यहाँ अपने एक दिवसीय प्रवास के दौरान उन्होंने शतावधानी रतनचन्द पुस्तकालय तथा पार्श्वनाथ संग्रहालय का अवलोकन किया। साथ ही पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा किये जा रहे कार्यों की सराहना की। इस अवसर पर संस्थान के संयुक्त निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने अपने समस्त सहकर्मियों के साथ उनका स्वागत किया। अगली सुबह आचार्य श्री कौशाम्बी के लिए प्रस्थान कर गये।

लाला हरजसराय जैन स्मृति व्याख्यानमाला का तृतीय व्याख्यान

३० मार्च, २०१६ को लाला हरजस राय जैन व्याख्यानमाला के तृतीय पुष्प के रूप में डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, संयुक्त निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ का व्याख्यान 'भारतीय दार्शनिक परम्परा में पारिस्थितिकी : जैन परम्परा के विशेष सन्दर्भ में' विषय पर आयोजित किया गया। इस अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रमुख विद्वज्जन उपस्थित थे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शताब्दी महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में एकदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शताब्दी महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में उत्तर पूर्व भारत की नाट्य कला एवं कलाशास्त्र पर केन्द्रित 'शास्त्र उत्सव कार्यक्रम' विषयक एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं ज्ञानप्रवाह, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में दिनांक २९ मार्च २०१६ को किया गया। इस संगोष्ठी में जिन विद्वानों ने उत्तर-पूर्व भारत की नाट्यकला विशेष रूप से 'सत्रिया नृत्य एवं अंकिया भावना' विषय पर अपने विचार रखे उनमें मुख्य हैं- डॉ. खगेन शर्मा (आसाम), मालिनी गोस्वामी, शशधर आचार्य, (आसाम) तथा प्रो० कृष्णकान्त

शर्मा (बी.एच.यू.)। संगोष्ठी का द्वितीय सत्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्वतंत्रता भवन में आयोजित हुआ जिसमें 'सत्रियानृत्य एवं अंकिया भावना' पर आधारित नृत्य नाटिका का डॉ. मल्लिका कन्दली तथा डॉ. सरोडी सायकिया और उनके ग्रुप द्वारा प्रस्तुतीकरण हुआ। इस संगोष्ठी में डॉ. सुधीर कुमार लाल (दिल्ली), डॉ. सुषमा जाटव, श्रीमती वीना जोशी (आई.जी.एन.सी.ए.,दिल्ली), प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी, प्रो. युगल किशोर मिश्र, डॉ. विश्वनाथ पाण्डेय, डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ. राहुल कुमार सिंह, डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय, डॉ. ओमप्रकाश सिंह, श्री राजेश चौबे इत्यादि विद्वज्जन उपस्थित थे।

REPORT ON

15 Day National Workshop on **'Research Methodology'**
organised by Parshwanath Vidyapeeth from
2nd to 16th April, 2016.

A 15 Day Natiomnal Workshop on **'Research Methodology'** was organised by Parshwanath Vidyapeeth from 2nd to 16th April, 2016. In this workshop the deliberations were confined to the subjects such as Sanskrit, Prakrit, Pali, Hindi, English, Linguistics, Philosophy and Religion, History, Ancient History, Culture & Archaeology, History of Art, Library & Information Sciences, Museology, Education, Geography, Economics, Sociology and Law.

There were 150 participants in total from the different universities, i.e. Banaras Hindu University, Varanasi; Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi; Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi; DDU Gorakhpur University, Gorakhpur; Purvanchal University, Jaunpur; Kurukshetra University, Kurukshetra; HNB Garhwal University, Shrinagar, Garhwal (UK) and Aligarh Muslim University, Aligarh.

The Inaugural function was held on the 2nd April 2016. Prof. Prithivish Nag, Vice-chancellor, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi, was the Chief-guest, Prof. K. D. Tripathi, Hony. Advisor, Indira Gandhi National Centre for the Arts, Varanasi presided over this session and Sh. D. R. Bhansali, a renowned Industrialist and Philanthropist, Varanasi was the Guest of Honour.

In this workshop total 32 lectures were delivered by the experts of different disciplines. Lectures were delivered on the following topics:

1. ***Research Terminology*** by Prof. Bimalendra Kumar, Former Head, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, BHU.
2. ***Types of Research*** by Dr. Vandana Singh, Malaviya Centre for Peace Research, BHU.
3. ***Śodha Vicāra athavā Śodha Jijñāsā kā Janma evam samasyā kathana kī Racanā*** by Dr. Ashish Tripathi, Deptt. of Hindi, BHU.
4. ***Selection of the Topic*** by Prof. Sachchidanand Mishra, Deptt. of Philosophy and Religion, BHU.
5. ***Project/Proposal Formulation*** by Dr. Harikesh Bahadur Singh, Head, Mycology & Plant Pathology, Institute of Agriculture Science, BHU.
6. ***How to prepare Synopsis*** by Prof. Ashok Kumar Jain, Deptt. of Jain-Bauddha Darśana, SVDV, BHU.
7. ***Techniques of Research Writing*** by Prof. Sanjay Kumar, Deptt. of English, BHU.
8. ***Aims and Objective of the Research*** by Prof. Rajaram Shukla, Head, Deptt. of Vedic Darśana, SVDV, BHU.
9. ***Historical Research*** by Prof. Siddharth Singh, Former Head, Deptt. of Pali & Buddhist Studies, BHU.
10. ***Qualitative Research*** by Prof. Ravi Shankar Singh, Deptt. of Geography, BHU.
11. ***Participatory Research*** by Prof. A. K. Singh, Deptt. of Geography, MMV, BHU.
12. ***Oriental Research*** by Prof. H. R. Sharma, Former Head, Deptt. of Veda, SVDV, BHU.

13. ***Approaches in Area Research-Context and Choices*** by Prof. Rana P. B. Singh, Former Head, Deptt. of Geography, BHU.

14. ***Hypothesis*** by Prof. Usha Rani Tiwari, Museology Section, Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, BHU

15. ***Data Collection and its Analysis*** by Prof. Sitaram Dubey, Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, BHU.

16. ***Review of Literature*** by Dr. Jyoti Rohilla Rana, Deptt. of History of Art, BHU.

17. ***Field Research*** by Prof. Arvind Kumar Joshi, Dept. of Sociology, BHU.

18. ***Parameters of Quality Research*** by Prof. Harikesh Singh, Faculty of Education, BHU.

19. ***Sampling in Educational Research*** by Dr. Vandana Singh, Malaviya Centre for Peace Research, BHU.

20. ***Academic Writing*** by Dr. Sanjay Kumar Tiwari, Academic Staff College, BHU.

21. ***Academic Review*** by Dr. Sanjay Kumar Tiwari, Academic Staff College, BHU.

22. ***Ethical Issues in preparation of Research Reports including Publications*** by Prof. B. D. Singh, Former Rector, BHU.

23. ***Citation*** by Prof. Ravi Shankar Singh, Deptt. of Geography, BHU.

24. ***Referencing and Bibliography*** by Prof. Ravi Shankar Singh, Deptt. of Geography, BHU.

25. ***Editing and Proof reading*** by Dr. S. P. Pandey, Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.

26. ***Mendeley (Free)- A Software of Referencing and Bibliography*** by Dr. D. Venugopal, Asst. Registrar, Institute of Agriculture Science, BHU.

27. ***Endnote (Subscription)- A Software of Referencing and Bibliography*** by Dr. Kripa Ram, Institute of Environment & Sustainable Development, BHU.

28. ***Error Control*** by Prof. G. C. Mishra, Deptt. of Farm Engineering, Institute of Agriculture Science, BHU.

29. ***E-content Development*** by Dr. Sanjay Kumar Tiwari, Academic Staff College, BHU.

30. ***Role of Citation Analysis in Research : Discussion on Web of Science and Scopus*** by Dr. Vivekanand Jain, Deputy Librarian, Central Library, BHU.

31. ***Diacritical Marks and Transliteration*** by Dr. S. P. Pandey, Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.

32. ***Method of Archaeological Survey and Excavation*** by Dr. Subhash Chandra Yadav, Regional Archaeological Officer, Varanasi.

At the end of the workshop a Paper/Power-point presentation by the participants was held. On the basis of the final result three participants were awarded Certificate of Merit with prizes.

The **Valedictory Function** of the workshop was held on the 16th April 2016, Padmashri Prof. Ram Harsh Singh, Former Vice-chancellor, Rajasthan Ayurved University, Jodhpur, presided over the session, Prof. B. D. Singh, Former Rector, BHU, Varanasi, was the Chief Guest of this session and Sh. Indrabhooti Barar, Secretary, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi was the Guest of Honour. The Workshop was conducted under the Directorship of **Dr. S. P. Pandey**, Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi and **Dr. Shrinetra Pandey** was the Coordinator of the workshop.

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के आगामी अकादमिक आयोजनः

१. **प्राकृत भाषा एवं साहित्य विषयक पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला-** जैन विद्या के क्षेत्र में कार्यरत या कार्य करने के इच्छुक विद्वानों के लिए प्राकृत भाषा का ज्ञान अत्यावश्यक है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ, प्राकृत भाषा के प्रशिक्षण हेतु कार्यशालाएँ आयोजित करता रहता है। इसी क्रम में प्राकृत भाषा एवं साहित्य पर छठीं कार्यशाला का आयोजन ३० मई से १३ जून २०१६ तक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय के निदेशकत्व तथा डॉ० राहुल कुमार सिंह के संयोजकत्व में किया जा रहा है। इस कार्यशाला में हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ प्राकृत काव्य एवं कथा साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्यापन मुख्यरूप से प्रोफेसर दीनानाथ शर्मा, भाषा विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय द्वारा किया जायेगा। साथ ही प्राकृत विद्या के अन्य आयामों पर भी विद्वानों द्वारा विशिष्ट व्याख्यान होंगे।

२. **त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन-** पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा २७-२९ अगस्त २०१६ को *"Assemilative and Composite Character of Jaina Art : Its Socio Cultural Relevance in Modern Society"* विषयक एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है। संगोष्ठी के आयोजन के लिए 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली तथा संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा वित्तिय सहायता प्राप्त हुई है। इस संगोष्ठी में पूरे देश से पधारे जैन कला के विशिष्ट विद्वानों द्वारा तीन दिन तक जैन कला और उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक उपादेयता पर गहन चिन्तन-मनन होगा। इस संगोष्ठी के आयोजन समिति के अध्यक्ष प्रसिद्ध कलाविद् प्रो० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, प्रो० इमरीटस, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी हैं।

इस संगोष्ठी में सहभागिता हेतु पंजीयन शुल्क शिक्षकों के लिए रु. १५००/- तथा छात्रों के लिए रु १०००/- निर्धारित किया गया है। पंजीयन की अन्तिम तिथि १५ अगस्त, २०१६ तथा शोधपत्र-सारांश भेजने की अन्तिम तिथि १५ जुलाई, २०१६ है। विशेष जानकारी के लिए सम्पर्क सूत्र :

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय : ९९३६१७९८१७

डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय : ८८७४००००८४

E-mail : pvpvaranasi@gmail.com

****

जैन जगत्

महातपस्वी, संघनायक परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य शास्त्रीश्री पद्म चन्द जी महाराज का देवलोक गमन

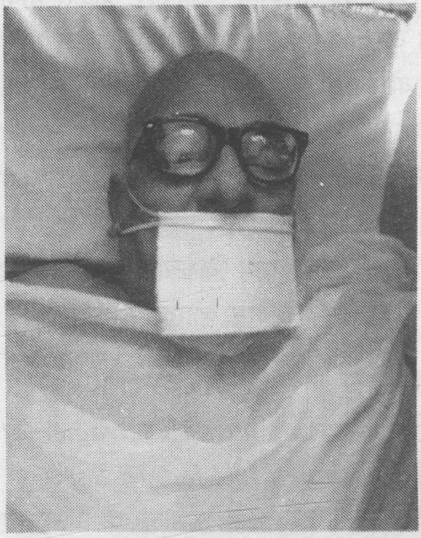

संघनायक परम श्रद्धेय पूज्य शास्त्री श्री पद्म चन्द्र जी महाराज का दिनांक २९ अप्रैल, २०१६ को ७५ वर्ष की अवस्था में सुबह ९.२३ पर शालीमार बाग, नई दिल्ली में देवलोक गमन हो गया। आप संघशास्ता, शासक प्रभावक गुरुदेव पूज्य श्री सुदर्शन लाल जी महाराज के शिष्य थे। आपका जन्म २२-९-१९४० को चांदनी चौक, दिल्ली में हुआ था। आपकी दीक्षा २ फरवरी, १९५८ को चांदनी चौक, दिल्ली में हुई तथा १३ फरवरी, २००० को जिंद, हरियाणा में आपको संघनायक पद प्रदान किया गया। आप लगभग ५८ वर्ष, २ माह, २७ दिन तक संयम पर्याय में रहे। देवलोक गमन पश्चात् आपकी अन्तिम यात्रा विशाल जनमेखला के साथ शनिवार ३० अप्रैल को प्रात: आठ बजे शालीमार बाग जैन स्थान से प्रारम्भ होकर रिचि-रिचि, लारेन्स रोड, त्रिनगर, शास्त्री नगर सराय रोहिल्ला, न्यू रोहतक रोड, फिल्मिस्तान, खरीबावली तथा चाँदनी चौक होते हुए निगम बोध घाट पर समाप्त हुई। पार्श्वनाथ विद्यापीठ इसे स्थानकवासी श्रमण संघ की अपूरणीय क्षति मानता है और पूज्यगुरुदेव को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

समाधिमरण पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

दिनांक १८ से २० फरवरी, २०१६ तक मद्रास विश्वविद्यालय के जैन विद्या विभाग एवं दर्शन विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में 'भारतीय परम्परा में समाधिमरण' विषयक एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। उद्घाटन सत्र में डॉ. दिलीप धींग द्वारा रचित पुस्तक 'तीर्थतुल्य अद्भुत गौशाला' का विमोचन भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के अध्यक्ष प्रो. एस. आर. भट्ट द्वारा किया गया। इस तीन दिवसीय संगोष्ठी में कुल आठ तकनीकी सत्रों का आयोजन हुआ जिनमें शास्त्रीय,

पुरातात्विक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, विधिक आदि अनेक दृष्टियों से सल्लेखना, संथारा व समाधिमरण विषयों पर ४५ शोध-पत्र पढ़े गये। इस अवसर पर इन पठित शोध-पत्रों की सार पुस्तिका भी जारी की गयी। इस अवसर पर लोयला मेरीमाउण्ट विश्वविद्यालय लासएंजिल्स के प्रो. के. चैपेल, मार्बर्ग फिलिप्स विश्वविद्यालय, जर्मनी के प्रो. जयेन्द्र सोनी, लिटगार्ड सोनी, डॉ. शुगन चन्द जैन, प्रो. जी.सी. त्रिपाठी, प्रो० एन० वसुपाल, डॉ० प्रिया जैन आदि विद्वानों ने विभिन्न सत्रों की अध्यक्षता की।

दिल्ली में 'अहिंसा कंदुक (बाल)' स्थापना की दशक पूर्ति पर विशेष आवरण व विरूपण जारी

दिनांक २६ अप्रैल, २०१६ को भारत सरकार के डाक विभाग की ओर से मुख्य पोस्टमास्टर जनरल, दिल्ली डाक परिमण्डल द्वारा 'श्री पार्श्व पद्मावती जिनालय महाबलीपुरम् तीर्थ न्यास' की पहल पर 'अहिंसा कंदुक' स्थापना की १०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर विशेष आवरण के साथ विशेष विरूपण (स्पेशल कैंसिलेशन) जारी किया गया। ज्ञातव्य है कि महरौली स्थित श्री पार्श्व पद्मावती जिनालय के प्रांगण में 'अहिंसा कंदुक' की स्थापना २००६ में की गयी थी। सभी अहिंसा प्रेमी व्यक्तियों एवं शक्तियों को संगठित कर पूरे विश्व में अहिंसा के सार्वभौमिक एवं सर्वकल्याणकारी सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य को समर्पित इस अवसर के माध्यम से अहिंसा के प्रति जैन समाज ने अपनी प्रतिबद्धता को दुहराया।

****

साहित्य-सत्कार

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन समिति पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज०) से निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुईं-

१. तीर्थंकर महावीर
२. साधना के सूत्र
३. अन्तर की ओर
४. विकास के सोपान
५. जैन स्तोत्र साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन
६. जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम
७. वीर ध्यान के कल्पतरु
८. मनोहर
९. अर्चना के दीप शिखा
१०. जीवन ज्योति
११. सीप सुधा रस
१२. अर्चना की उज्ज्वल ज्योति
१३. प्रमुख जैन आगमों में भारतीय दर्शन
१४. अर्चना के मोती
१५. अग्निपथ
१६. अनुभववाणी
१७. अर्चना के फूल
१८. अर्चना और आलोक
१९. अर्चना के मोती
२०. उलझता जीवन सुलझते प्रश्न
२१. रिश्तों की मिठास
२२. पर्युषण पर्व
२३. युवाचार्य मधुकर मुनि व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व
२४. अहिंसा की विजय
२५. योग मार्ग
२६. मधुकर काव्य
२७. अर्चनार्चन
२८. श्रीपाल चरित्र

****

अहिंसा परमो धर्मः

International School for Jain Studies

D-28, Panchsheel Enclave, New Delhi-110017, INDIA
Tel: 011-4079 3387 Email: issjs_india@yahoo.co.in
www.isjs.in

RESEARCH ASSISTANTS / ASSOCIATES NEEDED URGENTLY

International School for Jain Studies is engaged in promoting academic studies of Jainism and application of its doctrine for enhanced wellness globally. Since its inception, over 550 scholars from 25 universities of 30 countries and similar number of high scholars from 25 universities of 30 countries and similar number of high school teachers have attended our annual 4 to 6 week residential summer programs. ISJS is now hired by number of institutes to conduct research in various aspects of Jainism and application of its three main principles namely Ahimsa, Anekant (Multiplicity of view points) and Aparigraha (non possession). Please visit www.isjs.in for more information about ISJS.

ISJS has immediate need for one or two researcher assistants / associates to work on its research project. Ideally the candidate will be either a Ph.D. degree program in one of these departments Philosophy/Anthropology/ Jainology & Comparative Studies. The candidates should be well versed in English and the use of computers for research and writing report.

Initially the appointment will be for a one year period likely to be continued for longer period. Salary / stipend offered will be commensurate with the prevailing structure. Opportunities may exist for travel both within and outside India.

Please apply with your CV and details of work done or under progress to issjs_india@yahoo.co.in within 20 days from the date of announcement.

Dr. Shugan C Jain
Chairman

OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

1.	Prakrit - Hindi Kośa Edited by Dr. K.R. Chandra	₹ 1200.00
2.	Encyclopaedia of Jaina Studies Vol. I (Art & Architecture)	₹ 4000.00, $ 100.00
3.	Jaina Kumāra Sambhavam Dr. Neelam Rani Shrivastava	₹ 300.00
4.	Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. VII,	₹ 1430.00
5.	Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. III Dr. Shitikanth Mishra	₹ 1270.00
6.	Jaina Pratimā Vijñāna Prof. M.N.P. Tiwari	₹ 300.00
7.	Jaina Dharma Darśana Dr. Mohanlal Mehta	₹ 200.00
8.	Sthānakavāsi Jaina Paramparā Kā Itihāsa Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar	₹ 500.00
9.	Studies in Jaina Philosophy Dr. Nathmal Tatia	₹ 200.00
10.	Theory of Reality in Jaina Philosophy Dr. J. C. Sikdar	₹ 300.00
11.	Doctrine of Karma in Jaina Philosophy H.V. Glasenapp	₹ 150.00
12.	Jainism: The Oldest Living Religion Dr. Jyoti Prasad Jain	₹ 40.00
13.	Scientific Contents in Prakrit Canons Dr. N. L. Jain	₹ 400.00
14.	Pearls of Jaina Wisdom Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey	₹ 120.00
15.	Studies in Jaina Art Dr. U.P. Shah	₹300.00
16.	Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I Editor : Dr. S. P. Pandey	₹ 500. $ 40-00
17.	Jainism in a Global Perspective Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	₹ 400.00. $ 19.00
18.	Multi-dimensional Application of Anekāntavāda Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	₹ 500.00, $ 20.00
19.	Advanced Glossary of Jaina Terms Dr. N. L. Jain	₹ 300.00
20.	Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśīlana (Gujrati) Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi	₹ 300.00
21.	Jains Today in the World Pierre Paul Amiel	₹ 500.00
22.	Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion) Dr. N. L. Jain	₹ 300.00
23.	Jaina Karmagrantha Part -I-VI (Pt. Sukhlal Sanghvi)	₹ 500.00